-: आभार :-

"हीरक प्रवचन" का नववां भाग पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। कुछ ही समय पूर्व पहला, दूसरा, तीसरा चौथा, पांचवां, छटा, सातवां व आठवां भाग प्रकाश में आ चुका है। पाठकों ने उसे सहर्ष अपनाया है और इसी कारण आगे के भाग प्रकाशित करने का उत्साह हमें प्राप्त हो सका है। आशा है अगले भाग यथा सम्भव शीघ्र ही पाठकों की सेवा में पहुंच सकेंगे।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों का हमें प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग प्राप्त हुआ है, हम उनके प्रति अतीव आभारी हैं। पं० र० मुनि श्री हीरालालजी म० का, जिनके यह प्रवचन हैं, कहां तक आभार माना जाय? आप तो इसके प्राण ही हैं। वे सज्जन भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके आर्थिक सहयोग से हम इस साहित्य को प्रकाशित कर सके हैं।

अन्त में निवेदन है कि धर्म प्रेमी पाठक इन्हें स्वयं पढ़ें, दूसरों को पढ़ने के लिए दें और अधिक से अधिक प्रचार करने में सहायक बनें। इति शम्

देवराज सुराणा
अध्यक्ष,

अभयराज नाहर
मन्त्री,

जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर

:: दानदाताओं की शुभ नामावली ::

—:o:—

श्री मज्जैनाचार्य शांतमूर्ति स्वर्गीय श्री खूबचन्दजी म० के गुरु भ्राता स्व० व्याख्यी पं० मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म० के सुशिष्य श्रमण संघीय जैनागम तत्त्व 'विशारद पं० रत्न मुनि श्री हीरालालजी का सं० २०१६ का चातुर्मास बैंगलोर केन्टोनमेन्ट में श्री वर्ध० स्था० जैन श्रावक संघ की आग्रह भरी विनती से मोरचरी तथा सर्पींग्सरोड़ में हुआ। मुनि श्री के प्रवचन अत्यन्त मनोहर सारगर्भित एवं हृदयस्पर्शी होते थे। उन ओजस्वी प्रवचनों को सर्व साधारण के सदुपयोग में लाने के लिए श्रीमान् धर्मपालजी मेहता द्वारा संकेत लिपि लिखवाए गए और उन व्याख्यानों का संपादन हो जाने पर "हीरक प्रवचनादि" पुस्तक के रूप में प्रकाशित करवाने के लिए सांवत्सरिक महापर्व के समारोह की खुशी में निम्नलिखित उदार महानुभावों एवं महिलाओं ने अपनी उदारता का परिचय देते हुए सहयोग प्रदान किया:—

:: मानद् स्तम्भ ::

१११११) श्रीमान् सेठ मंगलजी भोजराजजी मेहता (पालनपुर निवासी) C/o विक्टरी टेड्र्स रंगापिल्लाई स्ट्रीट पांडीचेरी

१००१) श्रीमान् सेठ कुन्दनमलजी पुखराजजी लूकड़, चिकपेट बैंगलोर २

:: माननीय सहायक ::

४०६) श्री महिला समाज की ओर से बैंगलोर

४०१) श्री सेठ जसराजजी भंवरलालजी सियाल चिकपेट " २

४००) " मंगलजी भाई मणीलाल भाई मेहता (पालनपुर निवासी) C/o ओवरसीज ट्रेडर्स २२ डूप्लेक्स स्ट्रीट पांडीचेरी

४००) श्री सेठ हरिलालजी लक्ष्मीचन्दजी भाई मोदी (पालनपुर निवासी) C/o एच०एल० मोदी वेशाल स्ट्रीट पांडीचेरी

४००) ,, शांतिलालजी बछराजजी भाई मेहता (पालनपुरनिवासी) C/o एस० बछराज नं० ६ लंबोरडनी स्ट्रीट पांडीचेरी

३००) ,, गुप्तदान (एक बहिन की तरफ से) मामूली पैठ बैंगलोर २

२५१) श्रीमती मंजुला बहिन C/o एम० एस० मेहता, बौरटन शोप महात्मा गांधी रोड़, बैंगलोर १

२५१) श्रीमान् सेठ रूपचन्दजी शेषमलजी लूनिया, मोरचरी बाजार, बैंगलोर १

२५१) ,, आसुलालजी बुधमलजी वजेडीया बोहरा, पारस टेक्सटाईल D.S. लेन चीकपेट बैंगलोर सीटी २

२५१) मेसर्स बरलोटा ब्रादर्स १०३७६ इन्टर नेशनल बीजनश कोरपोरसन

२०२) ,, सेठ मंगलचन्दजी मांडोत, शिवाजी नगर बैंगलोर १

२०१) श्रीमती ताराबाई कालीदासजी मेहता C/o सेठ रजनीकान्तजी कालीदासजी मेहता २११ लिंगीचेट्टी स्ट्रीट मद्रास १

२००) श्रीमान् सेठ जसवंतसिंहजी संग्रामसिंहजी मेहता (जयपुर निवासी) C/o इम्पोर्ट एक्सपोर्ट कोरपोरेशन पोस्ट बोक्स नं० २८ कोसेकड़े स्ट्रीट पांडीचेरी

१५१) ,, गुप्त दान (एक सज्जन की ओर से) हलसूर

१५१) ,, केसरीमलजी अमोलकचन्दजी आछा, कांजीवरम

१३१) ,, घेवरचन्दजी जसराजजी गुलेछा, रंग स्वामी टेम्पल स्ट्रीट, बैंगलोर २

१२१) श्री सेठ जुगराजजी खींवराजजी बरमेचा मद्रास
१०२) ,, जसराजजी रांका (राखीवाले) C/o सेठ रतनचंदजी रांका ३८ वीरप्पन स्ट्रीट मद्रास
१०१) ,, किशनलालजी फूलचन्दजी लूनिया, दीवान सुरापालेन, बैंगलोर २
१०१) ,, मिश्रीलालजी पारसमलजी कातरेला, मामूली पैठ बैंगलोर २
१०१) ,, मगनभाई गुजराती, गांधी नगर बैंगलोर २
१०१) ,, गुलाबचन्दजी भंवरलालजी सकलेचा, मलेश्वरम बैंगलोर २
१०१) ,, भभूतमलजी देवड़ा, वेनी मिल्स रोड़ बैंगलोर २
१०१) ,, पन्नालालजी रतनचन्दजी कांकरिया, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ,, उदयरामजी भीकमचन्दजी खींवसरा, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ,, पुखराजजी मूथा, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ,, गणेशमलजी लोढ़ा सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ,, नेमीचन्दजी चांदमलजी सियाल, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ,, भंवरलालजी घीसूलालजी समदड़िया, सपींग्स रोड़ बैंगलोर १
१०१) ,, हीराचन्दजी फतहराजजी कटारिया, केवेलरी रोड़ बैंगलोर १
१०१) ,, मिश्रीलालजी भंवरलालजी बोहरा, मारवाड़ी बाजार बैंगलोर १
१०१) ,, दुलराजजी भंवरलालजी बोहरा, अलसूर बैंगलोर ८

१०१) श्री सेठअमोलकचन्दजी लोढ़ा तिमिया रोड़ बैंगलोर ८
१०१) „ जवानमलजी भंवरलालजी लोढ़ा तिमिया रोड़ बैंगलोर १
१०१) „ मिट्ठालालजी खुशालचन्दजी छाजेड़
तिसिया रोड़ बैंगलोर १
१०१) „ मोतीलालजी छाजेड़ „
१०१) „ भंवरलालजी बांठियां „
१०१) „ जेवतराजजी भंवरलालजी लूनिया
भारती नगर बैंगलोर १
१०१) „ लक्ष्मीचन्दजी C/o मोतीलालजी माणकचन्दजी कोठारी
नं० ३२ D. अरुनाचलम मुदलियार स्ट्रीट बैंगलोर १
१०१) „ पुखराजजी लूंकड़ की धर्मपत्नि श्रीमती गजरा बाई
चिक पैठ बैंगलोर २
१०१) „ जी० नेमीचन्दजी सकलेचा
ओल्डपुर हाऊस रोड़ बैंगलोर १
१०१) „ लखमीचन्दजी खारीवाल स्वास्तिक इलेक्ट्रिक „
हनुमान बिल्डिंग चिक पैठ बैंगलोर २
१०१) श्री गुप्तदान (एक सज्जन की ओर से) शूले बाजार बैंल०
१०१) „ रामलालजी मांडोत, शिवाजी नगर बैंगलोर १
१०१) „ पुखराजजी मांडोत ब्लोक पल्ली „ १
१०१) „ पुखराजजी पोरवाल,
चिक बाजार रोड़ शिवाजी नगर बैंगलोर १
१०१) „ श्री सेठ अम्बूलालजी धर्मराजजी रांका,
एंलगुण्ड पालियम बैंगलोर १
१०१) „ चम्पालालजी रांका, ओल्डपुर हाऊस रोड़ बैंगलोर १
१०१) „ केसरीमलजी मिश्रीमलजी गोठी,
५५ काशीमोर रायपुरम मद्रास १३

१०१) श्री सेठ जुगराजजी पुखराजजी खींवसरा,
सजोड़े अट्ठाई के उपलक्ष में
६/५८ बरकोट रोड टी. नगर मद्रास १७

१०१) „ कपूरचन्दजी एन्ड सुरतिया,
६८ मिन्ट स्ट्रीट साऊकार पेट मद्रास १

१०१) उगमबाई की तपस्या के उपलक्ष में
C/o जी० रघुनाथमलजी ४१६ मेन बाजार वैल्लुर

१०१) श्री सेठ भभूतमलजी जीवराजजी मरलेचा,
नगरथ पैठ बैंगलोर २

१०१) „ शान्तिलालजी छोटालालजी, एवेन्यु रोड बैंगलोर २

१०१) „ हिम्मतमलजी माणकचन्दजी छाजेड़,
अलसूर बाजार बैंगलोर

१०१) „ घीसूलालजी मोहनलालजी सेठिया, अशोका रोड मैसूर

१०१) „ मेघराजजी गदिया, अशोका रोड मैसूर

१०१) „ गुलाबचन्द कन्हैयालालजी गदिया; आरकोनम् मद्रास

१०१) श्रीमती सरस्वती बहिन C/o मणिलाल चतुरभाई
नवरंगपुरा एलीस ब्रिज बस स्टेन्ड के सामने, अहमदाबाद

१०१) श्री सेठ मिश्रीलालजी लूकड़ त्रिवल्लूर मद्रास

१०१) „ मानमलजी भंवरलालजी छाजेड़ „
पलुमर रोड़ उरगम के० जी० एफ०

१०१) „ पुखराजजी अनराजजी कटारिया आरकोनम

१०१) श्रीमती अ०सौ०कंचनगोरी धर्मपत्नी श्री नवलचन्दजी डोसी
C/o बोम्बे आपटीक्लब १७ सी ब्रोडवे मद्रास १

१०१) श्री सेठ हेमराजजी लालचन्दजी सीघवी
नम्बर ११ बड़ा बाजार रायपेट मद्रास १४

१०१) श्री सेठ अमोलकचन्द भंवरलाल विनायकीया,
१D२/१३६ माऊन्ट रोड़ थाऊजेन्ट लाईट मद्रास ६
१०१) ,, वरजीवन पी० सेठ, ठी० सुलतान बाजार
इन्द्र बाग हैदराबाद (आंध्र प्रदेश)
१०१) ,, खिवराजजी चोरड़िया, नं० ३६ जनरल मुथैय्या स्ट्रीट
साहूकार पेठ मद्रास नं० १
१०१) श्रीमान् सेठ जवतमलजी मोहनलालजी चोरड़िया नं० ७
बाजार रोड़ मैलापुर मद्रास
१०१) ,, भाणजी भगवानदासजी ६४ मिन्ट स्ट्रीट जी०पी०ओ०
बोक्स नम्बर २८२ साहूकार पेठ मद्रास १
१०१) ,, शम्भुमलजी मदनलालजी वैद्य नं० ८ बाजार रोड़
मैलापुर मद्रास ४
१०१) ,, शम्भुमलजी माणकचन्दजी चोरड़िया नं० १५ बाजार
रोड़ मैलापुर मद्रास ४
१०१) ,, भीखमचन्दजी सुराणा नं० ३३ पी० पी० वी० कोयल
स्ट्रीट मैलापुर मद्रास ४
१०१) ,, एच० सूरजमलजी जैन नं० ६७/१८ उसमान रोड़
टी० नगर मद्रास १७
१०१) ,, गुलाबचन्दजी घीसूलालजी मरलेचा बाजार रोड़
पल्लावरम
१०१) ,, सोजत रोड़ निवासी गणेशमलजी राजमलजी मरलेचा
रेडहिल्स मद्रास
१०१) श्रीमती चम्पाबाई और सामर बाई की ओर से C/o श्रीमान्
सेठ जुगराजजी पारसमलजी लोढ़ा २६ बाजार रोड़
सेदा पेठ मद्रास १५
१०१) ,, मनीलालजी एन्ड सन्स १७२ नेताजीबोस रोड़ मद्रास १

१०१) श्री सेठ एस० रतनचन्दजी चोरड़िया ५ रामाजियम आयर स्ट्रीट फ्लीफैन्ड गेट मद्रास १

१०१) ,, एम० जेयतराजजी खिवसरा नागलापुरम (तालुका) सतीवेड जिला (चितुर)

१०१) ,, सी० चान्दमलजी टिन्डीवरम

१०१) ,, गुलाबचन्दजी घीसूलालजी मरलेचा ४६ बाजार रोड़ पल्लावरम

१०१) ,, दीपचन्दजी पारसमलजी मरलेचा चगलपेठ

१०१) ,, बकतावरमलजी मिश्रीमलजी मरलेचा तिरकुलिकुण्डम

१०१) ,, गनेशमलजी जवन्तराजजी मरलेचा तिरकुलिकुण्डम

१०१) ,, सुजानमलजी बोहरा की धर्मपत्नि शान्तिकवर के सजोड़े त्याग के उपलक्ष में C/o सेठ सुजानमलजी बोहरा गांव सियाला (जिला) तन्जीवर

१०१) ,, जसराजजी सिंघवी की धर्मपत्नी सायर बाई ने सजोड़े ब्रह्मचर्य व्रत धारन करने के उपलक्ष में C/o सेठ जसराजजी देवराजजी सिंघवी गांव वलवानूर

१०१) ,, विजयराजजी नेमीचन्दजी बोहरा ,, ,,

१०१) ,, प्रेमराजजी महावीरचन्दजी भंडारी ,, ,,

१०१) ,, आईदानजी गोलेछा की धर्मपत्नी गोराबाई ने सजोड़े ब्रह्मचर्यव्रत धारन करने के उपलक्ष में C/o सेठ आईदानजी अमरचन्दजी गोलेछा जवेलर्स विल्लू पुरम

१०१) ,, चुन्नीलालजी नाहर के सजोड़े शीलव्रत धारन करने के उपलक्ष में C/o चुन्नीलालजी धरमचन्दजी नाहर गांव अरगढनल्लूर (स्टेशन) तिरकोम्ल्लूर

१०१) श्री सेठ एच० चन्दनमलजी एन्ड को० नम्बर ६७ नयनापा-
नायक स्ट्रीट मद्रास ३

१०१) ,, एस बनेचन्दजी बीजराजजी भटेवड़ा नम्बर ४२४ मेन
बाजार वैलुर

१०१) ,, एन० घेवरचन्दजी सोवनराजजी भटेवड़ा नम्बर ४११
मेन बाजार वैलुर

१०१) ,, नेमीचन्दजी ज्ञानचन्दजी गुलेछा नं० ७५ ,, ,,

१००) ,, डायालाल मणीलाल शाह (पालनपुर निवासी) C/o
जेम्स एन्ड कम्पनी रंग्गापिल्लाई स्ट्रीट पांडीचेरी

१०१) ,, कान्तिलालजी भाई भंसाली (पालनपुर निवासी)
C/o चेरी ट्रेडर्स दी त्यागमुदली स्ट्रीट पांडीचेरी

१०१) ,, नन्दलालजी कोठिया C/o सेठ चिरजीलालजी महावीर-
प्रसादजी जैन भरतपुर (राजस्थान)

१०१) श्री S. सनतोकचन्दजी जवरीलालजी नं० ४२ बाजार
स्ट्रीट मधुरनटकम जी० (चंगलपेट)

१०१) ,, सीरेमलजी भंवरलालजी मुथा नं० ४५ रंगस्वामी
टैम्पल स्ट्रीट बैंगलोर सीटी नं० २

१०१) श्रीमती दाखीबाई C/o सीरेमलजी चंपालालजी मुथा
नं० ४५ रंगस्वामी टेम्पल स्ट्रीट बैंगलोर सीटी नं० २

१०१) श्रीमती प्यारीबाई के १७ दिन के तप के उपलक्ष में भेंट
C/o घेवरचन्दजी चम्पालालजी एण्ड को नं० १४६
मामूलीपेट बैंगलोर सीटी

१०१) श्री मुलतानमलजी हसतीमलजी नं० १७ मामूल पेट
बैंगलोर सीटी

१०१) श्रीमती कमलाबाई C/o फतेचन्दजी धनराजजी मुथा
बड़ा बाजार Po. बोलारम (आंध्र प्रदेश)

१०१) श्री हीराचन्दजी नेमीचन्दजी बांटीया

Po. आंरकाट (जिला N.A.)

१०१) „ नन्दरामजी घीसुलालजी लोढ़ा एण्ड ब्रादर्स

नं० २० लेंकरोड़ कोलपेट बैंगलोर नं० २

१०१) „ केसरीमलजी घीसुलालजी कटारिया नं० १२१ A. M. Road चीकपेट करोस बैंगलोर सीटी नं० २

१०१) „ गणेशमलजी मोतीलालजी कांठडे नं० ५ V. टेनीरी रोड फरजन रोड बैंगलोर नं० ५

१०१) „ चम्पालालजी जेतनप्रकाश नं० ६२ नागरपेट बैंगलोर सीटी नं० २

१०१) „ L. पुनमचन्दजी जैन खींवसरा नवाशहर वाला बैंगलोर

१०१) „ बस्तीमलजी जोराजी भुरट पो० अजीत (मारवाड़) जि० जोधपुर वाला लुनी

१०१) „ माणकचन्दजी लोढ़ा पारमेर वाला की तरफ से

१०१) „ ऊदेचन्दजी कीसनलालजी सीयाल ठी० ७०

कारबर स्ट्रीट मुमई नं० १

१०१) „ बागमलजी वेलचन्दजी मुथा,

मु० मजल वाया लुणी (राजस्थान)

१००) „ शेसमलजी माणकचन्दजी ज्वेलरस १६२

बीज बाजार स्ट्रीट आरनी ARNI

१००) „ बाबूलालजी केशवलालजी शाह (पालनपुर निवासी)

C/o इस्टर्न ट्रेडर्स सेन्ट थरैस स्ट्रीट पांडीचेरी

कुछ शब्द

स्थानक वासी समाज प्रारम्भ से ही आचार प्रधान समाज रहा हैं। समय-समय पर इस समाज में आचार शिथिलता को मिटाने के लिये अनेक प्रमुख मुनिराज आगे आये हैं, क्योंकि मोक्ष की साधना आचार एवं ज्ञान रुप दोनों साधनों से ही परिपूर्ण होती है।

ज्ञान का परिशीलन आचार का पोषण करता है। वस्तुतः ज्ञान का फल आचार ही है। कहा है—"नाणस्सफलं विरई"। जिस ज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य सदाचार परायण नहीं बनता और अकृत्य से विमुख नहीं होता, वह ज्ञान सार्थक नहीं है, और ज्ञान का प्रधान साधन साहित्य है। जिस समाज का साहित्य जितना समुन्नत होता है। वह समाज भी उतना ही प्रगतिशील होता है।

ज्ञान प्रसार के मुख्य दो साधन है। भाषण एवं लेखन—स्थानक वासी समाज को गर्व है कि इस समाज में बहुसंख्यक

वक्ता मुनिराज एवं साध्वियों की अच्छी संख्या है। उनमें से कईयों का साहित्य प्रकाश में भी आया है। आचार्य श्री जवाहिरलालजी महाराज का जवाहिर साहित्य, श्रद्धेय गुरुदेव श्री जैन दिवाकर जी महा० सा० का दिवाकर साहित्य, श्रमण संघीय उपाध्याय कवि श्री अमरचन्दजी म० सा० का सन्मति प्रकाशन साहित्य तो कई भागों में प्रकाशित हो चुका है।

श्रमण संघ के भू० पू० उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० सा० उपाध्याय श्री हस्तिमलजी म० सा० वक्ता श्री सौभाग्य मलजी म० सा० वक्ता श्री प्रेमचंदजी म० सा० मत्री मुनि श्री पुष्कर मुनि जी म० सा० श्री नानचन्द्रजी म० सा० वक्ता श्री विनयचन्द्रजी म० सा० एवं साध्वी समुदाय में भी श्री उज्जवलकुमारीजी सुमति कुमारीजी; शारदाबाई स्वामी वसुमतिबाई स्वामी, लीलाबाई स्वामी आदि का प्रवचन-संग्रह रूप में प्रकाश में भी आचुका है और इस साहित्य से समाज को बहुत लाभ पहुंचा है।

पंडित मुनि श्री हीरालालजी म० सा० के प्रवचनों का यह ६ वां भाग है। पं० मुनि श्री एक घुमक्कड़ संत हैं उन्होंने साधु जीवन में राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, पंजाब, जम्बू विहार प्रदेश, बंगाल, गुजरात, काठियावाड़, महाराष्ट्; आंध्र, कर्नाटक, एवं मद्रास प्रदेश को अपने पद विहार से विभूषित किया है। चरैवेति चरैवेति को आपने अपने जीवन में बसा लिया है। संभव

है इस धुन के कारण वे भारत के शेष प्रदेशों को भी अपने पावों से मापलें।

घुम्मकड़ होने के साथ ही वे अच्छे वक्ता भी हैं और जन मानस के अच्छे अभ्यासी भी। दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय ब्यावर के सद् प्रयत्नों से एवं बेंगलोर संघ की जागृति से मुनि श्री के व्याख्यानों का यह नवमां भाग प्रस्तुत है। घुमकड़ जीवन व्यक्ति को विभिन्न अनुभवों से विभूषित कर देता है। मुनि श्री के व्याख्यानों में भी इस अनुभव का जगह २ दिग्दर्शन होता है।

इस भाग में मुनि श्री के ८ व्याखानों का संग्रह है। मुनि श्री में अपने भावों को व्यक्त करने की सुन्दर कला है और है चलते विषय को नाना रसों का पुट देने का चातुर्य। वक्ता वही है जो प्रत्येक विषय के सरस निरुपण द्वारा व्यक्ति के जीवन को स्पर्श करता हुआ चला जाये, श्रोताओं को रस विभोर करते हुऐ भी उनके समक्ष जीवन का एक प्रशस्त पथ प्रस्तुत करदे, जीने की कला देदे, जीवन में ज्योति भरदे।

प्रस्तुत संग्रह में कषाय अन्तर्दाह, मृत्युञ्जय संकट. निवारण, साधना-स्वरूप, विषैली परिणति, तारिणी तपस्या, असमाधि निवारण, और ओलीतप शीर्षको से व्याख्यानों का संग्रह है। व्याख्यानों के प्रारंभ में समवायांग सूत्र का विवेचन करते हुए नाना हेतु उक्तियों से अपने प्रतिपाद्य विषय का विवेचन किया गया है।

साहित्य प्रकाशन कर संस्था तो अपने बहुत कुछ कर्तव्य से मुक्त हो जाती है किन्तु समाज का कर्तव्य हो जाता है कि प्रचार-प्रसार से वह प्रत्येक की साहित्य रुचि को तृप्त करे। आशा है धर्म प्रेमी जिज्ञासु जन इन प्रवचनों से लाभ उठाएँगे और अपने जीवन का उत्थान करेंगे।

कुन्दन भवन, ब्यावर
ता: २१-६-६२

श्री अशोक मुनि
साहित्यरत्न जैन सिद्धान्त
विशारद

विषयानुक्रमणिका
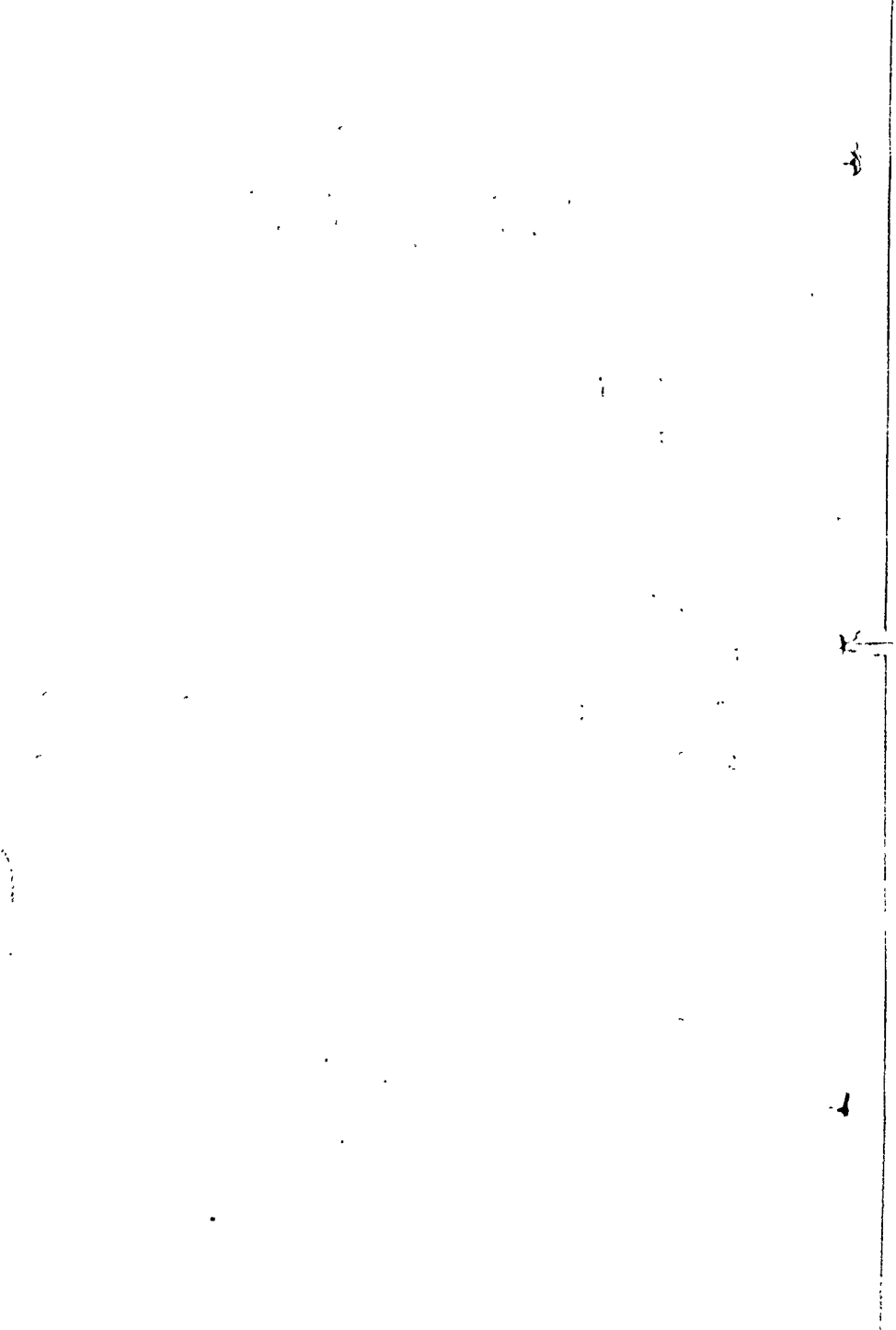
❀ ओम् अर्हम् नमः ❀

कषाय-अन्तर्दाह
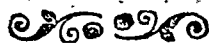
प्रार्थना-

(तर्ज:—सीता है सतवंती नार सदा गुण गावनां रे)

पूरण करजो जी पारस प्रभु मेरी कामना रे।
मेरे शरणा है निरन्तर तेरे नाम ना रे॥ टेक॥
नृपति अश्वसेन का नन्दन जगतविख्यात हो जी।
माता वामा देवी जाया, दसवां देवलोक से आया।
सुन्दर नील वर्ण की काया,
फणधर लंछन पद नव हाथ शरीर सोहावना रे॥ १॥
नागन नाग अगन से जलता आप बचावियाजी।
दीना शरण ओनवकार लीना धरणेन्द्र अवतार॥
कीना परमोत्तम उपकार,
वो हुए शासन के रखवार सुख वरतावना रे॥ २॥
परचा पूरण पारस ही पारस जाण जो जी।
परगट प्रभुजी पुरुषादाणी,, शान्ति कारक निर्मल नाणी
भव्य उद्धारक जिनकी वाणी,।

इन्द्र नरेन्द्र तणा पुजनीक लगे रलियामणा रे ॥ ३ ॥
प्यारा लागो पारस नाथ सदा हिरदे वसो जी।
तेरी महीमा अपरम्पार, दीजो जल्दी जन्म सुधार।
होवे सुखी सकल संसार,
घर-घर आनन्द ही आनन्द रहे ऐसी भावना रे ॥ ४ ॥
पारसनाथ थकी सब पामे ऋद्धि संपदाजी,
किंचित कष्टे रहे नहिं पास, चौथमल है चरणों का दास;
वरते निसरपुर सुखवास,
जय जयंकार हुआ चौमासा हर्ष वधावणा रे ॥ ५ ॥

समवायांगसूत्र—

अभी जो भजन बोला गया है उसमें भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है उन्हीं भगवन्त तीर्थङ्करों की वाणी समवायांग-सूत्र के माध्यम से आपके समक्ष रखी जा रही है। चौदहवां समवाय कल पूर्ण किया गया था, अब पन्द्रहवां समवाय आरंभ किया जाता है।

परमधार्मिक देव पन्द्रह प्रकार के हैं, यह देव नरकपाल भी कहलाते हैं और अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम वाले होते हैं। तीसरे नरक तक ये होते हैं और नारक जीवों को बड़ी भयानक लोमहर्षक पीड़ाएँ पहुँचाते हैं; जैसे शिकारी लोग शिकार को निर्दयतापूर्वक मारते हैं, उसी प्रकार ये देवता भी नारकों को बुरी

तरह सताते हैं, दुस्सह व्यथा पहुंचाना ही इनका काम है। इनके नाम और काम इस प्रकार हैं-

(१) अम्ब—नारकों को ऊपर उछाल कर तलवार आदि की नोंक पर झेलते हैं।

(२) अम्बरिषी—उन आहत नारकों को शस्त्र से टुकड़े-टुकड़े करते हैं और पकाने योग्य बनाते हैं, जैसे आम का रस निचोड़ा जाता है, उसी प्रकार उन्हें निचोड़ते हैं।

(३) श्याम—ये नाम के अनुसार काले वर्ण के होते हैं, यह प्रहार करके नारकों को नीचे पटक देते हैं।

(४) शवल—चीमटे लेकर नारक जीवों के कलेजे का मांस नोंचते हैं।

(५) रुद्र—खड्ग भाला आदि शस्त्रों से नारकों को पछाड़ते हैं।

(६) महारुद्र—नरक के नारकियों के अंगोपांग छेदन करके उन्हें अत्यन्त त्रास देते हैं। इन्हें वैरुद्र भी कहते हैं।

(७) काल—नारकी जीवों को खूब उबलते तेल की कढ़ाई में पकाते-उबालते हैं।

(८) महाकाल—नारकों के टुकड़े २ करके और उन्हें तल-तल करके उन्हीं को खिलाते हैं, उनसे कहते हैं—अरे! तूने

दूसरे जीवों को मार कर उनका मांस खाया है, ले अब तू अपना ही मांस खा! तुझे मांस बहुत प्रिय लगता है।

(६) असिपत्र-ये नारकों को शाल्मली नामक वृक्ष के नीचे बिठलाते हैं और फिर वृक्ष को हिलाते हैं। वृक्ष के पत्ते तलवार के समान तीखे होते हैं। उनके गिरने से नारकों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं।

(१०) धनुष-धनुष खींच कर तीखे-तीखे बाणों से नारक जीवों के अंगोपांगों को बींधते हैं।

(११) कुम्भ-जैसे आम को काट कर आचार डाला जाता है, उसी प्रकार नारकों को काट-काट कर कुम्भादिक में पकाते हैं।

(१२) बालुक-जैसे भड़भूंजा भाड़ में अग्नि जलाता है और फिर वालू को गर्म करता है और चने आदि को भूनता है इसी प्रकार यह देवता भी नारकों को गर्म रेत की विक्रिया करके उसमें भूनते हैं।

(१३) वैतरणी-यह नरकपाल अत्यन्त उष्ण रुधिर एवं राध (पीव) की नदी की विक्रिया करके नारकियों को उसमें स्नान कराते हैं।

(१४) खरस्वर-जैसे मलमल आदि किसी वस्त्र को तीखे शस्त्र पर डाल कर खींचा जाय तो वह छिन्नभिन्न हो जाता है, इसी

प्रकार ये परमाधार्मिक देव नारकियों को तीक्ष्ण शस्त्रों पर रगड़ते और छिन्नभिन्न कर देते हैं।

(१५) महाघोष—जैसे कसाई भेड़-बकरियों को किसी वाड़े में ठूंस-ठूंस कर भर देते हैं उसी प्रकार यह देवता भी नरक के जीवों को पकड़ कर इकट्ठे करते हैं और नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं।

इस प्रकार यह पन्द्रह परमाधार्मिक देव तीसरे नरक तक के नारक को नाना प्रकार की व्यथाएँ उत्पन्न किया करते हैं। प्रथम नरक में कम से कम दस हजार वर्षों तक और अधिक से अधिक एक सागरोपम जितने लम्बे काल तक नारकों को निरन्तर ऐसी भयानक वेदनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। दूसरे नरक में तीन सागरोपम तक और कम से कम भी एक सागरोपम तक तथा तीसरे नरक में सात सागरोपम तक और कम से कम भी तीन सागरोपम तक यह दुस्सह पीड़ाएँ सहन करनी होती हैं।

नरक में दस प्रकार की महाभयानक वेदनाएँ तो हैं ही, ऊपर से यह परमाधामी देवता और गजब ढाते हैं। वास्तव में नरक की वेदनाओं का शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। इन वेदनाओं के वर्णन को पढ़-सुन कर मनुष्य को सावधान हो जाना चाहिए और ऐसे पापकृत्यों से दूर ही रहना चाहिए जिनके करने से जीव को नरक में जाना पड़ता है और वहां की भीषण व्यथाओं का पात्र बनना पड़ता है। एक कवि ने यथार्थ ही कहा है—

पूर्णिमा को पन्द्रह भाग आच्छादित करता है। शुक्लपक्ष में पन्द्रहवें भाग को खुला करता है। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक भाग यावत् पूर्णिमा को पन्द्रह भाग खुला करता है।

बारह महीनों की बारह राशियां हैं, जिनके नाम हैं—(१) मेष (२) वृष (३) मिथुन (४) कर्क (५) सिंह (६) कन्या (७) तुला (८) वृश्चिक (९) धन (१०) मकर (११) कुम्भ (१२) मीन। प्रत्येक मास में एक संक्रान्ति आती है। मेष संक्रान्ति वैशाख महीने में आती है और तुला की संक्रान्ति कार्तिक में आती है। तो तुला की संक्रान्ति को छह नक्षत्र चन्द्रमा के साथ पन्द्रह मुहूर्त्त तक रहते हैं। वे छह नक्षत्र हैं—(१) शतभिषा (२) भरणी (३) आर्द्रा (४) आश्लेषा (५) स्वाति और (६) ज्येष्ठा।

किस मास में कौन-सी संक्रान्ति चल रही है, यह जानने की पद्धति यह है कि वैशाख मास में मेष संक्रान्ति आती है। उससे आगे के महीने की जो संख्या हो मेष से लेकर उसी संख्या वाली राशि को गिन लीजिए। उदाहरणार्थ-अभी आसौज मास चल रहा है। यह वैशाख से गिनने पर छठा महीना आता है तो मेष से छठी अर्थात् कन्या की संक्रान्ति आती है।

पंजाब में संक्रान्ति से मास का आरम्भ माना जाता है। जिस दिन संक्रान्ति होती है, गृहस्थ उस दिन प्रायः स्थानक में आते हैं और साधु के मुख से संक्रान्ति का नाम सुनते हैं। साधु

उन्हें संक्रान्ति का नाम सुनाते हैं और धर्मध्यान करने की प्रेरणा करते हैं।

चैत्र और आसोज के महीने में पन्द्रह मुहूर्त्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है, अर्थात् रात और दिन बराबर-बराबर होते हैं। फिर क्रमशः दिन और रात में वृद्धि-हानि होती जाती है। चैत्र से दिन बढ़ने लगता है और रात्रि कम होने लगती है। दिन बढ़ते बढ़ते अठारह मुहूर्त्त का हो जाता है। उस समय रात्रि घटती घटती बारह मुहूर्त्त की रह जाती है। इसी प्रकार आसौज से रात्रि बढ़ती और दिन घटता जाता है।

इसके पश्चात् बतलाया गया है कि विद्यानुवाद नामक जो दसवां पूर्व है, उसकी पन्द्रह वस्तु हैं। पहले कहा जा चुका है कि वस्तु का अर्थ यहां शास्त्र का विभाग है जैसे कई उद्देशक मिलकर अध्ययन होता है उसी प्रकार कई अध्ययन मिलकर एक वस्तु होती है।

मनुष्यों में पन्द्रह ही प्रकार के योग पाये जा सकते हैं। यथा-(१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) मिश्र मनोयोग (४) व्यवहार मनोयोग (५) सत्य वचनयोग (६) असत्य वचनयोग (७) उभय मनायोग (८) व्यवहार मनोयोग (९) औदारिक काययोग (१०) औदारिक मिश्र काययोग (११) वैक्रिय

काययोग (१२) वैक्रियमिश्र काययोग (१३) आहारक काययोग (१४) आहारकमिश्र काययोग और (१५) कार्मण काययोग।

पन्द्रह ही योग मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी जीव में नहीं हो सकते। देवों और नारकों को न औदारिक शरीर होता है और न आहारक शरीर ही होता है। अतएव इनके योग भी उनमें नहीं हो सकते तिर्यंचों में भी आहारक शरीर संभव नहीं है। मनुष्य को औदारिक शरीर जन्म से ही होता है और तपस्या के बल से वह वैक्रिय तथा आहारक शरीर भी प्राप्त कर सकता है। अतएव उसमें सभी के योग हो सकते हैं, मगर इस कथन का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि किसी जीव में एक ही साथ सब योग हो सकते हैं। यहां इनकी जो विद्यमानता कही है वह शक्ति की अपेक्षा से है-व्यापार की अपेक्षा से नहीं। एक ही साथ सबका व्यापार होना असंभव है।

प्रथम रत्नप्रभा नामक नरक भूमि में कोई-कोई नारक जीव पन्द्रह पल्योपम की आयु वाले होते हैं, पांचवें नरक में कोई-कोई नारक पन्द्रह सागरोपम की स्थिति वाले हैं।

पहले और दूसरे देवलोक में किसी-किसी देव की स्थिति पन्द्रह पल्योपम की है, सातवें देवलोक में किसी-किसी देवता की स्थिति पन्द्रह सागरोपम की है।

जो देव नंद, सुनंद, नंदावर्त्त, नंदप्रभ, नंदकान्त, नंदवर्ण

नंदलेश्य, नंदध्वज, नंदशृंग, नंदसिद्ध, नंदकूट और नंदोत्तरावतंसक नामक विमानों में जन्म लेते हैं, उनकी उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह सागरोपम की कही है, वे देव पन्द्रह पक्ष में एकबार श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उन्हें पन्द्रह हजार वर्ष में आहार करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

संसार में कई-कई भव्य जीव ऐसे भी हैं जो पन्द्रह भव करके सिद्ध-बुद्ध होंगे, मुक्त होंगे यावत् समस्त कर्मों का अन्त करेंगे।

यहां से सोलहवां समवाय प्रारंभ होता है। शास्त्रकार फर्माते हैं-दूसरे अङ्ग सूयगडांग (सूत्रकृत्) के दो श्रुतस्कंध हैं, उनमें से प्रथम श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन हैं। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(१) स्वसमयपरसमय अध्ययन इसमें स्वसिद्धान्त का और परसिद्धान्त का विवेचन है।

(२) वैतालीय अध्ययन-इसमें आते हुए कर्मों को किस प्रकार रोका जाय और किस प्रकार कर्मों को तोड़ा जाय, इसका तरीका बतलाया गया है।

(३) उपसर्गपरिज्ञा अध्ययन-इसमें नाना प्रकार के उपसर्गों का तथा उन्हें धैर्य के साथ सहन करने का वर्णन किया गया है।

उपसर्ग अनेक प्रकार के होते हैं; साधक का जीवन कण्टकाकीर्ण पथ पर चलने के लिए है। जब वह साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है तो कभी-कभी अनुकूल और कभी-कभी प्रतिकूल उपसर्ग आते हैं। अनुकूल उपसर्ग हैं प्रलोभन और प्रतिकूल उपसर्ग हैं–कष्ट और संकट यह भी कोई दैवी, कोई मानुषिक और कोई तिर्यग्योनिक होते हैं। कभी मानसन्मान मिलता है तो कभी अपमान और तिरस्कार का कडुआ घूंट पीना पड़ता है। कभी कोई द्वेषवश होकर यह भी कह देता है–याद रखना जो कभी इधर से निकले तो! कभी-कभी प्राण भी ले लिये जाते हैं यह प्रतिकूल उपसर्ग है। माता, पिता, पत्नी आदि अनुरागवश नवप्रव्रजित साधु को नाना प्रकार के प्रलोभन देकर गृहस्थ में ले जाने का प्रयत्न करते हैं, यह अनुकूल उपसर्ग है इनका विस्तार से वर्णन है।

(४) स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन–स्त्रियों के द्वारा होने वाले उपसर्गों का इसमें वर्णन है। कदाचित् कोई साधु साधना से भ्रष्ट होकर स्त्री के चंगुल में पड़ जाता है तो उसकी बाद में कैसी दुर्दशा होती है, इसका बड़ा ही कारुणिक चित्र खींचा गया है। उसी वर्णन से चार उद्देशक भरे हैं।

(५) नरक विभक्ति अध्ययन–पापाचारी जीवों को नरक में पहुंच कर किस प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं, यह बात खूब

विस्तार के साथ इस अध्ययन में बतलाई गई है। वर्णन इतना सजीव है कि पढ़ते-पढ़ते रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

(६) वीरस्तुति अध्ययन—नरक से बचने का उपाय है श्री महावीर प्रभु के चरणों की शरण ग्रहण करना। अतएव इस छठे अध्ययन में महावीर स्वामी की स्तुति की गई है।

(७) कुशीलपरिभाषा अध्ययन—जिसने प्रव्रज्या तो अंगीकार कर ली है किन्तु जो आचार का समुचित रूप से पालन नहीं करता वह कुशील कहलाता है। प्रस्तुत अध्ययन में इसका वर्णन है।

(८) वीर्य-अध्ययन—कुशील से निवृत्त होने के हेतु पराक्रम करने की आवश्यकता है। पराक्रम धर्म में भी किया जाता है, अधर्म में भी किया जाता है और धर्माधर्म में भी किया जाता है। किन्तु धर्म में किया हुआ पराक्रम ही आत्मकल्याण का कारण है।

(९) धर्म-अध्ययन—इसमें धर्म के विषय में विवेचन किया गया है।

(१०) समाधि-अध्ययन—मन की शान्ति और स्वस्थता को समाधि कहते हैं। जीवन में समाधि होने पर ही शेष धर्मक्रियाएँ सुचारु रूप से होती हैं। अतएव इस अध्ययन में समाधि का वर्णन है।

(११) मोक्षमार्ग-अध्ययन-इसका विषय नाम से ही प्रकट और स्पष्ट है।

(१२) समवसरण अध्ययन-इस अध्ययन में क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निरास किया गया है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व क्यों है, किस प्रकार उसकी शुद्धि होती है, आदि विषयों का विस्तार से वर्णन है।

(१३) यथातथ्य अध्ययन-इसमें तत्त्व का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित किया गया है।

(१४) ग्रन्थि-अध्ययन-निर्ग्रन्थ पद की सार्थकता तभी होती है जब ग्रन्थि अर्थात् कषाय को हटा दिया जाय। प्रकृत अध्ययन में इसी का वर्णन है।

(१५) यमक-अध्ययन-इसमें विस्तारपूर्वक उपदेश है।

(१६) गाथा-अध्ययन-इसमें भी विविध प्रकार के उपदेश हैं जो मुमुक्षु जीवों के लिए अत्यन्त हितकर हैं।

सूत्रकृतांग नामक दूसरे अंग के प्रथम श्रुतस्कंध के यह सोलह अध्ययन हैं।

तत्पश्चात् बतलाया गया है कि कषाय सोलह हैं—अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान,

माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। यह चारों चौकड़ी मिल कर सोलह कषाय हैं।

कष का अर्थ है संसार या कर्म। जिससे कष अर्थात् जन्म मरण रूप संसार की और उसके कारणभूत कर्मों की 'आय' अर्थात् प्राप्ति हो उसे कषाय कहते हैं। वस्तुतः कर्मबन्ध का कारण कषाय है और कषाय के कारण ही जीवों को जन्म-मरण के दुःख उठाने पड़ते हैं।

कषायों में प्रथम अनन्तानुबंधीचतुष्टय है। यह इतना तीव्र होता है कि जीवनपर्यन्त बना रहता है। किसी से कोई लड़ाई-झगड़ा हो जाए तो अनन्तानुबंधी कषाय वाला जिंदगी भर शान्त नहीं होता। यह कषाय सम्यक्त्व का नाश करता है या उसे होने नहीं देता। इस कषाय से नरकगति की प्राप्ति होती है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशविरति (श्रावकपन) को नहीं होने देता। एक वर्ष पर्यन्त इसकी स्थिति है और इससे तिर्यंच गति की प्राप्ति होती है।

अगर किसी का कषाय एक वर्ष से अधिक ठहरता है और वर्ष में एक बार क्षमा के आदान-प्रदान द्वारा कोई अपने अन्तः-करण को निष्कषाय नहीं कर लेता तो उसका सम्यक्त्व भी खतरे में समझना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण कषाय का जब तक उदय है तब तक जीवन में सर्वविरति का उदय नहीं होता। किसी ने साधु का वेष धारण कर लिया है मगर उसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय विद्यमान है तो वह केवल द्रव्यसाधु ही है, वास्तविक साधु नहीं। इस कषाय की स्थिति चार मास की है। इस कषाय वाला जीव मनुष्य गति प्राप्त करता है। जो कषाय पन्द्रह दिन से अधिक ठहरता है और चार मास से अधिक नहीं ठहरता वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है। अतएव यह कहा जा सकता है कि जिसके अन्तःकरण में कषाय का संस्कार पन्द्रह दिन से अधिक रह जाता है, वह सर्वविरत नहीं है।

संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र को रोकता है। इसकी स्थिति पन्द्रह दिन की है। यह कषाय देवगति का कारण है।

विभिन्न कषायों की जो स्थिति शास्त्र में बतलाई गई है, वह संस्कार की अपेक्षा से है, अर्थात् उस-उस कषाय का संस्कार इतने काल तक रहता है। मगर यह भी समझ लेना आवश्यक है कि यह स्थिति प्रायिक है। कभी संज्वलन कषाय भी पन्द्रह दिन से अधिक रह जाता है और अनन्तानुबंधी भी कम समय में उपशान्त हो जाता है।

यह सोलहों कषाय मोहनीय कर्म के भेद हैं, इन्हें कषाय मोहनीय कहते हैं। इनके अतिरिक्त नौ नोकषाय मोहनीय

हैं–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद नपुंसकवेद, इनके साथ दर्शन मोहनीय के तीन भेद मिला देने पर मोहकर्म के अट्ठाईस भेद होते हैं।

कषाय आत्मा का घोर शत्रु है। जब तक इनकी विद्यमानता रहती है, आत्मा में मलीनता बनी रहती है। प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि क्रोध, अहंकार, छल-कपट और लोभ की आग में जगत् के जीव जल रहे हैं संत्रस्त हो रहे हैं और आकुल-व्याकुल हो रहे हैं। कषायों के कारण ही जीव अनादि काल से भवभ्रमण कर रहे हैं अतएव जो आत्मा का हित चाहते हैं, उन्हें कषायों का क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। शास्त्र में भगवान् महावीर को स्तुति करते हुए कहा है—

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वंता अरहा महेसी,
ण कुव्वई पाव ण कारवेइ॥

—सूयगडांग, अ० ६, गा० २६

यह भगवान् महावीर की स्तुति है। भगवान् के विषय में यहां कहा गया है कि वे क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करके अर्हत् पद के गौरव को प्राप्त हुए, ऋषियों में महान् बने,

कषायों से रहित हो जाने के कारण भगवान् न स्वयं पाप करते थे, न दूसरों से करवाते थे और न पाप करने वाले का अनुमोदन करते थे। क्योंकि कषाय के अभाव में पाप का अभाव हो ही जाता है।

आप भी अरिहन्त और सिद्ध बनने की कामना करते हैं, मगर वही अरिहन्त और सिद्ध की लोकोत्तर पदवी पा सकता है जो आत्मा में से कषाय की कलुषता को पूरी तरह धोकर साफ कर देता है, कषाय का वमन कर देता है।

संसार में तपस्या करने वाले को तपस्वी कहते हैं परन्तु हम देखते हैं कि उन्होंने अन्न तो छोड़ दिया है मगर कषाय का त्याग नहीं किया है, जो असली त्याग है जिसके बिना आत्मा की शुद्धि होती ही नहीं है। जरासी मन के खिलाफ बात हो जाती है तो फौरन दिमाग में तेजी आ जाती है, तो अन्न छोड़ा था तो संसार चक्र को कम करने के लिए छोड़ा था परन्तु कषाय करने से तो संसार और भी बढ़ जाएगा, और जब कषाय नहीं छूटता है तो वह उपवास कोरा लंघन ही रह जाता है उपवास किसे कहते हैं?

कषायविषयाहारस्त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेय, शेषं लङ्घनकं विदुः ॥

शास्त्रकार कहते हैं कि आहार के साथ कषायों और

इन्द्रियविषयों का त्याग होगा तभी वह उपवास माना जाएगा; अन्यथा वह लंघन है-उपवास नहीं।

किसी बिमार को वैद्य ने खाना मना कर दिया है और उसके मना करने से वह नहीं खाता है तो वह लंघन है, उपवास-तप में शामिल नहीं है। अतएव सच्चा और आत्मज्ञ तपस्वी वह है जो आहार के साथ कषाय का भी त्याग करता है।

मगर कषायों का त्याग सरल नहीं है। उसके लिए निरन्तर अभ्यास, साधना और मन पर चौकसी रखने की आवश्यकता है। श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन में केशी स्वामी और गौतम स्वामी के संवाद का वर्णन किया गया है। श्रावस्ती नगरी के तिंदुक उद्यान में दोनों महापुरुषों का समागम हुआ। तब केशी स्वामी ने प्रश्न किया—

> संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा।
> जे उहंति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे ? ॥५०॥

अर्थात्-यह घोर अग्नि जल रही है और यह चारों ओर जलाने वाली है। सारा संसार इस आग से जल रहा है। दूसरी आग तो बाहर से जलाती है मगर यह आग शरीर के भीतर-भीतर अपना काम करती है। महात्मन् ! आपने किस प्रकार इस आग को शान्त किया ?

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया-

महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं।
सिंचामि सययं देहं, सित्ता नो डहंति मे ॥५१॥

अर्थात्-गौतम स्वामी कहते हैं-मैंने उस आग पर जल छिड़क दिया है और निरन्तर छिड़कता ही रहता हूँ। इस कारण वह आग मुझे जला नहीं पाती।

केशी स्वामी ने पुनः प्रश्न किया-

अग्गी य इइ के वुत्ता, केसी गोयममब्बवी।
केसीमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणम ब्बवी ॥५२॥

अर्थात्-गौतम स्वामी का उत्तर सुन कर केशी स्वामी ने पुनः प्रश्न किया-जिस आग को आपने निरन्तर जल के सिंचन से शान्त कर दिया है, वह आग और पानी क्या है? उसके उत्तर में गौतम कहते हैं-

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहंति मे ॥५३॥

अर्थात्-शरीर के भीतर स्थित वह आग कषाय है और श्रुत, शील तथा तप जल है। श्रुत की जलधारा के निपात से उस

आग की दाहकशक्ति कुंठित हो जाती है। फिर वह मुझे जला नहीं सकती।

इस संवाद से साधक को एक रोशनी मिलती है जिसके प्रकाश में वह अपने अटपटे रास्ते पर भी सही सलामत आगे बढ़ सकता है और अपनी लम्बी मंजिल तक पहुंच सकता है।

भाइयो ! यह सारा संसार राग और द्वेष की भीषण आग से जल रहा है। और वह आग घर के चूल्हे की आग नहीं है, कारखाने की भी आग नहीं है, यह कषायों की आग है जो संसार के समस्त प्राणियों के अन्तर में प्रज्वलित हो रही है। नारक, देवता, मनुष्य और तिर्यंच और एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव राग-द्वेष की आग में पड़े झुलस रहे हैं। सभी उसमें जल रहे हैं।

भगवान् तीर्थङ्करों का कथन है कि आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाना है तो दिखावटी क्रियाओं से काम नहीं चल सकता; ऊपरी-ऊपरी क्रियाएँ भी काम नहीं आ सकतीं, लम्बे-लम्बे कोरे अनशन भी आत्मा को विशुद्ध नहीं बना सकते। इसके लिए तो राग और द्वेष के कीचड़ को निकाल बाहर करना होगा। कषाय की मलीनता को साफ करना होगा और समभाव एवं वीतरागभाव में निष्ठा प्राप्त करनी होगी। क्रोध की आग पर क्षमा का जल छिड़कना होगा। दशवैकालिकसूत्र में कहा है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायामज्जवभावेणं, लोभं संतोसओ जिणे ॥

अ० ८ गा० ३९

चार प्रकार के कषाय रूपी अग्नि को शान्त करने के लिए कौन-सा पानी डालना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है-क्रोध का उपशमभाव से हनन करो। जब क्षमा रूपी शीतल जल की धारा आपके अन्तःकरण में प्रवाहित हो रही होगी तो सामने वाला कैसा भी आगबबूला क्यों न हो, उसे ठंडा पड़ना ही होगा। किसी ने अपशब्द कहा और आप शान्त रहे आए तो वह पराजित हो जाएगा। न हुआ तो भी आपका कुछ नहीं बिगड़ेगा। कहा है–

क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति ॥

अगर तू ने क्षमा का अमोघ शस्त्र धारण कर रक्खा है तो दुर्जन क्या बिगाड़ सकता है? पानी में पड़ी हुई आग अपने आप ही बुझ जाती है।

और मान रूपी कषायाग्नि को निरभिमानिता--मृदुता-से जीतो। मान के कारण आठ होते हैं। अगर जाति का अभिमान होने लगे तो उस समय सोचना चाहिए--अरे जीव! क्यों जाति

का अभिमान करता है ? तू अनन्त बार कीड़ा-मकोड़ा, श्वान, शूकर आदि हीनतर जातियों में जन्म ले चुका है, फिर क्यों जाति का अभिमान करता है। धन का अभिमान हो तो विचार करो-- मेरे पास है ही कितना-सा धन ? चक्रवर्त्ती महाराज छह खण्ड के अधिपति होते हैं। उनके धन वैभव की तुलना में मेरे पास क्या है ? परन्तु उनमें से भी ब्रह्मदत्त जैसे मर कर नरक की यातनाएँ सहन कर रहे हैं। संसार का सर्वोत्तम वैभव भी उसे नरक से नहीं बचा सका। फिर इस धन का क्या लाभ है ? फिर चक्रवर्त्ती की तुलना में तो मैं अकिंचन ही हूं- दरिद्र हूँ।

जब माया अर्थात् दगाबाजी का विचार मन में आने लगे तो उसे आर्जव-सरलता-से दबा देना चाहिए। सरल हृदय में पवित्रता का वास होता है। जहां वक्रता है वहां कोई सद्गुण पनपने नहीं पाता।

इसी प्रकार जब लोभ की अग्नि हृदय में जलने लगे और बेचैनी पैदा करने लगे तो उस पर सन्तोष का शीतल जल छिड़क देना चाहिए।

यह सोलह कषाय हैं और इनको जीतने के भगवान् ने यह उपाय बतलाए हैं। जो पुण्यशील पुरुष इन उपायों को काम में लाकर कषाय की अग्नि को शान्त कर देगा उसे इसी जन्म में, तत्काल ही शान्ति और निराकुलता का आभास होने लगेगा।

उसका संताप मिट जाएगा और जीवन ऊँचा उठ जाएगा। परलोक में तो उसका हित होने ही वाला है।

तो घर और आहार का परिहार करना सरल है मगर कषाय का त्याग करना कठिन है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि छोटी-सी बात पर भी क्रोध आ जाता है और कभी-कभी बड़ी बात पर भी क्रोध नहीं आता। तो जानना चाहिए कि बोल के बदले बोले तो मामला बढ़ जायगा और क्षमा कर दिया तो मामला शान्त हो जाएगा।

कुछ लोग कहते हैं कि क्षमा कायरता की निशानी है, मगर ऐसा कहने वाले भ्रम में हैं। 'कमजोर गुस्सा भारी' की कहावत प्रसिद्ध है। जिसमें आत्मिक बल है, ओज है, सहिष्णुता है; वही क्षमा कर सकता है, कायर क्षमा नहीं कर सकता। उससे कुछ करते धरते नहीं बनेगा तब भी वह मन ही मन जलता भुनता रहेगा। इसीलिए कहा—

क्षमा वीरस्य भूषणम्।

अर्थात्—क्षमा वीर पुरुष का भूषण है।

अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों ने अपने प्रति किये जाने वाले दुर्व्यवहार के विरोध में सत्याग्रह किया। उसमें पठानों ने भी भाग लिया। सरकार ने उन सबको पकड़ लिया और सजा दे दी। किन्तु कुछ काल के बाद सब छोड़ दिये गये। इस पर

गांधीजी अपनी आत्म कथा में कहते हैं—सरकार ने सत्याग्रह करने वालों को गिरफ्तार किया मगर कराने वाले को नहीं किया, यह देखकर एक पठान को बड़ा गुस्सा आया। उसने सोचा-यह स्वयं तो मौज कर रहा है और दूसरों को जेल भिजवा रहा है। पठान को इतना गुस्सा आया कि उसने गांधीजी को जान से ही मार डालने का विचार कर लिया पठान जब सजा काट कर बाहर आया तो गांधीजी को मारने का अवसर देखने लगा। जिसका जिस काम को करने का पक्का और स्थायी विचार होता है, उसे तदनुसार कार्य करने का अवसर मिल ही जाता है।

एक बार गांधीजी किसी बस्ती से गुजर रहे थे। साथ में कोई था नहीं, अकेले थे। पठान इस अवसर से लाभ उठाने के लिए वहां जा पहुंचा। पठान का लम्बा-चौड़ा पहाड़-सा शरीर था और उधर गांधीजी कृषकाय। उसने इन्हें पकड़ लिया और एक नाले में फैंक दिया। फैंक कर वह भाग गया और गांधीजी बेहोश हो गए। उधर से कोई निकला और उसने गांधीजी को देखा। तब वह अस्पताल में ले जाये गये। जब वे होश में आए तो उनसे पूछा गया-आपकी यह स्थिति किसने की है?

गांधीजी ने उत्तर दिया-एक पठान मुझे मार्ग में मिला और मुझे देखते ही क्रोधित हो उठा। उसने उठा कर मुझे नाले में पटक दिया।

लोगों ने कहा-उस पठान को गुस्ताखी की सजा मिलनी चाहिए। आप उस पर मुकदमा दायर कर दें। तब गांधीजी ने जो उत्तर दिया उससे उनकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने कहा- नहीं, वह भी हिन्दुस्तानी है और मैं भी हिन्दुस्तानी हूँ, अतएव हम दोनों भाई-भाई हैं। भाई को भाई पर हर्गिज मुकदमा नहीं चलाना चाहिए।। फिर यद्यपि मुझे मालूम नहीं है, तथापि कोई गुनाह मुझसे हुआ होगा जिससे उसने ऐसा किया है। मुझे उससे अपने गुनाह के लिए माफी मांगनी चाहिए।

तत्पश्चात् गांधीजी स्वयं उस पठान के घर गये। उन्होंने कहा-भाई, मुझसे यदि कोई अपराध हो गया है तो उसे क्षमा कर दो।

यद्यपि पठान का हृदय पाषाण की तरह कठोर था मगर गांधीजी के सत्पुरुषोचित भद्र व्यवहार ने उसे पलट कर मोम जैसा कर दिया। उसके दिल का दानव निकल गया और उसके स्थान पर देवता विराजमान हो गया। वह अपने कृत्य पर घोर पश्चात्ताप करने लगा। वह फूट फूट कर रोने लगा।

अभिप्राय यह है कि यदि गांधीजी चाहते तो पठान को जेल में भिजवा सकते थे, मगर इससे क्या विरोध शान्त हो जाता? नहीं, वैर की वृद्धि होती और पठान के जीवन का सुधार न होता। किन्तु गांधीजी ने क्षमा का अवलम्बन करके एक मनुष्य

को गलत राह से हटा कर सही राह पर ला दिया। कौन कह सकता है कि यह गांधीजी की कायरता थी ? यह उनके जीवन की श्लाघनीय महत्ता थी, जिसके कारण वे आगे चल कर संसार के असाधारण महान् पुरुषों में गिने गए।

वैर की आग वैर से शान्त नहीं होती, जैसे रक्तरंजित वस्त्र रक्त से साफ नहीं होता। उसे बुझाने के लिए क्षमा के जल की ही आवश्यकता होती है। यह गांधीजी की अनुपम क्षमा का ही महान् प्रभाव था कि पठान ने उनके पैरों में गिर कर क्षमा की याचना की। इसीलिए गांधीजी आज भी स्मरण किये जाते हैं और किये जाते रहेंगे। शरीर की आकृति और धनदौलत के कारण कौन स्मरणीय बना है ?

भाइयो ! आपको मानवजीवन प्राप्त हुआ है, विवेक और जिनधर्म की प्राप्ति हुई है तो कषाय के अकल्याणकर स्वरूप को समझ कर उसे त्यागना चाहिए। कषाय ही भवभ्रमण का मुख्य कारण है। जैसे कुंभार का चाक एक कील पर घूमता है और कील के अभाव में नहीं घूम सकता, उसी प्रकार भवभ्रमण का आधार कषाय है। कषाय का अन्त होने पर भवभ्रमण का अन्त हो जाता है और समस्त दुःखों और कष्टों का भी अन्त आ जाता है।

जो भव्य प्राणी इन कषायों पर विजय प्राप्त करेंगे उन्हीं में

सम्यक्त्व, श्रावकपन, साधुपन और वीतरागभाव प्रकट होगा और तब उसे केवलज्ञान की भी प्राप्ति हो जाएगी।

अमरसेन-वीरसेन चरित–

यही तथ्य चरित के द्वारा आपके सामने रख रहा हूं। कल बतलाया जा चुका है कि अमरसेन किस प्रकार पुनः वेश्या की कपटपूर्ण बातों में आ गया और उसके घर में रहने लगा। वह पांचों इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों का अनुभव करता हुआ समय व्यतीत करने लगा। वह वेश्या को मोहरें दिया करता था और वेश्या परम प्रसन्न रहती थी। जब भी वह मोहरों की फरमाइश करती, अमरसेन उसे पूरा कर देता था।

यह मामला देख कर वेश्या ने विचार किया–अब इसके पास कौन-सी करामात है कि यह मोहरें प्राप्त करने लगा है और जब भी मांगती हूं, यह दे देता है। कुछ दिन तक तो वह चुपचाप इसी टोह में रही, मगर जब पता नहीं लगा सकी तो एक दिन मीठी-मीठी बातों की भूमिका तैयार करके बोली–नाथ! आपसे जब मांगती हूं तभी आप मोहरें निकाल कर दे देते हैं। इतनी मोहरें कहां से लाते हैं?

अमरसेन अब पहले जैसा भोंदू नहीं रहा था। वह वेश्या के हथकंडों को कुछ कुछ समझ चुका था। अतएव सीधा उत्तर न

देकर उसने हँसते हुए कहा-अगर मैं तुम्हें मोहरें निकाल कर न दूं तो तुम मुझे निकाल दो।

वेश्या इस व्यंग को समझ गई। उसे उस दिन का वह दृश्य याद आ गया जब मोहरें न दे सकने के कारण उसने अमरसेन को निकाल दिया था। मगर अपने मनोभावों को छिपाना वेश्या की विशेषता होती है। वह असली भाव व्यक्त नहीं होने देती, इसी कारण तो अनेक पतंग उस जाज्वल्यमान लौ पर निछावर हो कर प्राणों की आहुति दे बैठते हैं। वह वाणी से सुधा प्रवाहित करती है और हृदय उसका हलाहल से परिपूर्ण होता है।

तो अमरसेन के व्यंग से वेश्या भीतर ही भीतर कुढ़ गई। फिर भी उसने अपने मन को गोपन करके कहा-प्यारे! उस गई-गुजरी बात को आप भूले नहीं अभी तक? वह पगली और थी, मैं और हूं। किसी बात को सदा गांठ बांध कर चलने से सुख नहीं मिलता। मेरी प्रार्थना है कि आप उस बात को अब मुँह पर न लाइए। पर मेरे मूल प्रश्न को तो आपने टाल ही दिया।

अमरसेन ने सोचा-यह बड़ी चालाक और धूर्त है और मुझ पर दुबारा हाथ साफ करना चाहती है। एक बार इसका विश्वास करके धोखा खा चुका हूं। अब इसे सच-सच बात नहीं कहना चाहिए। यह सोच कर उसने उत्तर दिया-मेरे पास वह

खड़ाऊँ हैं। इनके द्वारा मैं रत्नद्वीप चला जाता हूं और वहीं से मोहरे लाकर तुम्हें दे देता हूँ।

यह सुन कर वेश्या ने विचार किया-इन खड़ाऊँओं को किसी भी उपाय से अपने कब्जे में कर लेना चाहिए। फिर तो मैं स्वयं ही रत्नद्वीप चली जाया करूँगी और मनचाहा धन ले आया करूँगी। फिर क्या आवश्यकता रहेगी मुझे इसकी गुलामी करने की?

मगर धूर्त्त वेश्या ने वह बात वहीं समाप्त कर दी। कहा-धन्य हो नाथ! आप बड़े पुण्यवान् हो कि आपको अनायास ही ऐसी दिव्य वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं।

दो-चार दिन बीत जाने पर एक दिन फिर उसने जादू चलाया। कहा-नाथ, मेरी भी सुनो। जब आप मुझको अकेली छोड़ कर चले गये और बहुत कुछ खोजने पर भी नहीं मिले तो मैंने एक मनौती की थी। समुद्र के बीच में पूर्णा देवी का एक स्थान है। वहां बहुत-से नर-नारी देवी की मनौती मनाने जाया करते हैं। मैंने भी उस देवी की मनौती की है कि यदि आप सही-सलामत वापिस लौट आएँगे तो जोड़े के साथ तेरी पूजा करने आऊँगी। अब, जब आप वापिस आ गए हैं तो देवी का पूजन करने अवश्य चलना चाहिए।

भाइयो! लोग नाना-प्रकार की मनौतियां मनाते हैं। कोई

माताजी की, कोई पीर-पैगम्बर की, कोई तपस्वीजी की और कोई मेरी भी मनौती करते हैं. कोई जड़ की और कोई चेतन की। मगर अपने पुण्य के सिवाय कोई भी मनौती सफल नहीं हो सकती। वास्तव में तो मन की श्रद्धा ही फलदायिनी होती है, इसी से सिद्धि प्राप्त होती है, किसी ने कहा है—

पितर पूत जो देय तो खसम काय को कीजे?
लक्ष्मी देवे धन्न तो दुःख काहे को सहीजे?
चंडी मुंडी दे सुहाग तो घर-घर रंडा क्यों हुवे?
तीर्थ उतारे पार तो फिर कुष्टी क्यों रहे?
जीव दियां जीव ऊबरे तो शाह सुल्ताना क्यों मरे?
मंत्र जंत्र हो सिद्ध तो घर-घर मांगता क्यों फिरे?

अगर पितृपूजा से सन्तान का लाभ हो जाता है तो लग्न करने की आवश्यकता ही क्या है? लक्ष्मीजी की पूजा से धन मिलता है तो धनोपार्जन के लिए लोग क्यों चोटी से एड़ी तक पसीना बहाते हैं? क्यों नाना प्रकार के कष्ट सहन करते हैं? अगर चंडी की उपासना से सुहाग अविचल हो तो क्यों कोई विधवा हो?

कई भोली बहिनें शीतला की पूजा करने जाती हैं और कहती हैं—'एक बालूड़ो दे।' मगर बहनो! तुम्हें वहां से कुछ भी मिलने वाला नहीं है। हां, जिससे तुमको मिलना है यदि

कोई हानि तो है नहीं, कुछ नवीन अनुभव ही मिलेगा। यह विचार कर उसने कहा—देवी की मनौती की है तो उसे पूर्ण करना ही चाहिए, मैं तुम्हारे साथ चलूँगा।

दूसरे दिन अमरसेन पूजन की सामग्री साथ लेकर तैयार हो गया। उसने खड़ाऊँ पहनी और वेश्या को अपने कंधे पर बिठा लिया। दोनों आकाशमार्ग से देवी के मंदिर में, जो समुद्र के बीच बना था, पहुंच गए।

वेश्या किस प्रकार झांसा देकर, खड़ाऊँ लेकर और अमरसेन को वहीं छोड़ कर उड़ती है, यह बात आगे सुनने से विदित होगी।

भाइयो ! वेश्या ने धन के लोभ से अंधी होकर अमरसेन के साथ जो कपट किया, वह कोई नवीन बात नहीं है. कषायों के वशवर्त्ती होकर जीव इसी प्रकार अनर्थ करते हैं। यह जानकर जो भव्य प्राणी कषायों का त्याग करेंगे वे इह परलोक में सुखी होंगे।

केन्टोनमेंट बैंगलोर
१-१०-५६

मृत्युञ्जय

प्रार्थना—

सिद्धाणं बुद्धाणं० ।

卐卐

समवायांगसूत्र—

भाइयो और बहिनो !

कुछ दिनों से श्रीमत्समवायांगसूत्र का वांचन चल रहा है। कल सोलहवें समवाय में से कषायों का वर्णन किया गया था। अब शास्त्रकार फर्माते हैं कि जम्बूद्वीप में जो सुमेरु पर्वत है, उसके सोलह नाम हैं। यों तो अढ़ाई द्वीप में पांच मेरु पर्वत हैं, मगर यहां जम्बूद्वीप के मध्य में जो मेरु है, उसी के विषय में कहा जा रहा है। यह पर्वत सब से ऊंचा–एक लाख योजन ऊंचा और तीनों लोकों को स्पर्श करने वाला है। इसका विस्तार मूल में दस हजार योजन है। इसके सोलह नाम इस प्रकार हैं–(१) मन्दर (२) मेरु (३) मनोरम (४) सुदर्शन (५) स्वयंप्रभ (६) गिरिराज

(७) रत्नोच्चय (८) प्रियदर्शन (९) मध्य (१०) लोकनाभि—जैसे शरीर के मध्य भाग में नाभि होती है उसी प्रकार लोक के माध्य-भाग में विद्यमान (११) अर्थ (१२) सूर्यावर्त्त—सूर्य मेरु के चारों ओर परिभ्रमण करता है इस कारण (१३) सूर्यावरण-इसी के कारण सूर्य अदृश्य हो जाता है (१४) उत्तर—मेरु सभी ओर से उत्तर में गिना जाता है (१५) दिशा—दिशाओं का प्रारम्भ इसी गिरिराज से होता है और (१६) अवतंसक—सर्वोच्च और श्रेष्ठ है।

तत्पश्चात् बतलाया गया है कि पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओं की संख्या सोलह हजार थी।

आत्मप्रवाद नामक पूर्व की सोलह वस्तु (अध्ययन-विशेष) कहे गए हैं।

चमरचंचा और बलचंचा नामक राजधानियों के मध्यभाग में उपरिकालयन (आवास की पीठिका) सोलह हजार योजन लम्बा-चौड़ा है।

जम्बूद्वीप की जगती से ९५ हजार योजन लवणसमुद्र में जाने पर, दस हजार योजन चौड़ी, नगर के कोट के समान चारों ओर फिरती, पानी की वेल (दगमाल) कही गई है। वह सोलह हजार योजन ऊँची है।

रत्नप्रभा नामक नरकभूमि में किसी-किसी नारक की

स्थिति सोलह पल्योपम की है। पांचवें नरक में किन्हीं-किन्हीं नारकों की स्थिति सोलह सागरोपम की कही गई है।

असुरकुमार जाति के देवों में किसी-किसी की आयु सोलह पल्योपम की होती है। सौधर्म और ईशान नामक प्रथम और द्वितीय देवलोक में किसी-किसी देव की आयु सोलह पल्योपम की है। महाशुक्र नामक सातवें देवलोक में कोई-कोई देव ऐसे भी हैं जिनकी सोलह सागरोपम की स्थिति है।

आवर्त्त, व्यावर्त्त, नन्दिकावर्त्त, महानन्दिकावर्त्त, अंकुश, प्रलम्ब, भद्र, सुभद्र, महाभद्र, सर्वतोभद्र और भद्रोत्तरावतंसक नाम के विमानों में उत्पन्न होने वाले देवों की सोलह सागरोपम की स्थिति है, ये देव सोलह पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। इन्हें सोलह हजार वर्षों में आहार करने की अभिलाषा होती है।

कोई-कोई भवसिद्धिक जीव संसार में ऐसे भी हैं जो सोलह भव करके सिद्धि प्राप्त करेंगे यावत् समस्त दुःखों का अन्त करेंगे।

अब शास्त्रकार सत्रहवें समवाय को प्रारम्भ करते हुए फर्माते हैं कि—असंयम सत्तरह प्रकार का है। वह इस प्रकार है—

(१) पृथ्वीकाय-असंयम (२) अप्काय-असंयम (३) तेजःकाय-असंयम (४) वायुकाय-असंयम (५) वनस्पतिकाय-असंयम

(७) रत्नोच्चय (८) प्रियदर्शन (९) मध्य (१०) लोकनाभि–जैसे शरीर के मध्य भाग में नाभि होती है उसी प्रकार लोक के माध्य-भाग में विद्यमान (११) अर्थ (१२) सूर्यावर्त्त–सूर्य मेरु के चारों ओर परिभ्रमण करता है इस कारण (१३) सूर्यावरण-इसी के कारण सूर्य अदृश्य हो जाता है (१४) उत्तर–मेरु सभी ओर से उत्तर में गिना जाता है (१५) दिशा–दिशाओं का प्रारम्भ इसी गिरिराज से होता है और (१६) अवतंसक–सर्वोच्च और श्रेष्ठ है।

तत्पश्चात् बतलाया गया है कि पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओं की संख्या सोलह हजार थी।

आत्मप्रवाद नामक पूर्व की सोलह वस्तु (अध्ययन-विशेष) कहे गए हैं।

चमरचंचा और बलचंचा नामक राजधानियों के मध्यभाग में उपरिकालयन (आवास की पीठिका) सोलह हजार योजन लम्बा-चौड़ा है।

जम्बूद्वीप की जगती से ९५ हजार योजन लवणसमुद्र में जाने पर, दस हजार योजन चौड़ी, नगर के कोट के समान चारों ओर फिरती, पानी की वेल (दगमाल) कही गई है। वह सोलह हजार योजन ऊँची है।

रत्नप्रभा नामक नरकभूमि में किसी-किसी नारक की

स्थिति सोलह पल्योपम की है। पांचवें नरक में किन्हीं-किन्हीं नारकों की स्थिति सोलह सागरोपम की कही गई है।

असुरकुमार जाति के देवों में किसी-किसी की आयु सोलह पल्योपम की होती है। सौधर्म और ईशान नामक प्रथम और द्वितीय देवलोक में किसी-किसी देव की आयु सोलह पल्योपम की है। महाशुक्र नामक सातवें देवलोक में कोई-कोई देव ऐसे भी हैं जिनकी सोलह सागरोपम की स्थिति है।

आवर्त्त, व्यावर्त्त, नन्दिकावर्त्त, महानन्दिकावर्त्त, अंकुश, प्रलम्ब, भद्र, सुभद्र, महाभद्र, सर्वतोभद्र और भद्रोत्तरावतंसक नाम के विमानों में उत्पन्न होने वाले देवों की सोलह सागरोपम की स्थिति है, ये देव सोलह पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। इन्हें सोलह हजार वर्षों में आहार करने की अभिलाषा होती है।

कोई-कोई भवसिद्धिक जीव संसार में ऐसे भी हैं जो सोलह भव करके सिद्धि प्राप्त करेंगे यावत् समस्त दुःखों का अन्त करेंगे।

अब शास्त्रकार सत्रहवें समवाय को प्रारम्भ करते हुए फर्माते हैं कि—असंयम सत्तरह प्रकार का है। वह इस प्रकार है—

(१) पृथ्वीकाय-असंयम (२) अपूकाय-असंयम (३) तेजस्काय-असंयम (४) वायुकाय-असंयम (५) वनस्पतिकाय-असंयम

(६) द्वीन्द्रिय-असंयम (७) त्रीन्द्रिय-असंयम (८) चतुरिन्द्रिय असंयम (९) पंचेन्द्रिय-असंयम (१०) अजीवकाय-असंयम (११) प्रेक्षा-असंयम (१२) उपेक्षा-असंयम (१३) अवहट्टु (अपहृत्य) असंयम (१४) अप्रमार्जना-असंयम (१५) मनः-असंयम (१६) वचन-असंयम और (१७) काय-असंयम।

यतना-रहित असम्यक् प्रवृत्ति असंयम कहलाती है। अपनी इन्द्रियों को, वाणी को और मन को स्वच्छंद प्रवृत्त होने देना, पाप में प्रवृत्त होने से रोकना नहीं और हिंसा आदि पापों से निवृत्त न होना असंयम है। इससे विपरीत, किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, इस प्रकार से प्रवृत्ति करना और इन्द्रियों पर नियन्त्रण करना–उन्हें अप्रशस्त रूप में प्रवृत्ति न करने देना, संयम है। शास्त्र में असंयम के सत्तरह भेद बतलाए गए हैं, उनका परित्याग करना सत्तरह प्रकार का संयम है।

पहले से लेकर नौवें असंयम तक सभी प्रकार के जीवों सम्बन्धी असंयम का समावेश किया गया है। मुमुक्षु जीव के द्वारा ऐसी कोई भी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए जिससे पृथ्वीकाय, अप्काय यावत् पंचेन्द्रिय जीवों का हनन हो, उन्हें त्रास या कष्ट उत्पन्न हो। अगर कोई जीव पृथ्वीकाय का हनन करता है तो वह पृथ्वीकाय-असंयम का भागी होकर पापकर्म का संचय करता है। और यदि पृथ्वीकाय के आरम्भ-समारम्भ से बचता है तो पृथ्वी-

काय के संयम का भागी होता है। इसी प्रकार शेष जीवों के विषय में समझ लेना चाहिए।

दसवां अजीवकाय-असंयम है। अजीव होने पर भी जिन पदार्थों के निमित्त से असंयम होता है, ऐसे स्वर्ण, रजत आदि तथा शस्त्र आदि को ग्रहण करना और उनका अप्रशस्त या अप्रशस्त तरीके से उपयोग करना अजीवकाय-असंयम है। जो अजीव पदार्थ जीवन के लिए उपयोगी हैं, उन्हें ग्रहण करके भी यतनापूर्वक प्रवृत्त करना अजीवकायसंयम कहलाता है।

जीव-जन्तु, हरितकाय एवं बीज आदि से रहित स्थान को अच्छी तरह देख कर बैठना, सोना एवं गमनादि क्रियाएँ करना प्रेक्षासंयम है। बिना देखे-भाले प्रवृत्ति करना प्रेक्षा-असंयम है।

जो लोग पापकार्य में प्रवृत्त हैं, उन्हें पाप के लिए प्रोत्साहन देना या उनका अनुमोदन करना उपेक्षा-असंयम है। और ऐसा न करना उपेक्षासंयम है।

इसी प्रकार अयतना के साथ प्रमार्जन करना अथवा प्रमार्जन किये बिना ही वस्त्र पात्र आदि को उठा लेना आदि अप्रमार्जनासंयम है।

मल मूत्र आदि किसी भी वस्तु को अयतना के साथ परठना अपहृत्य असंयम है। भलीभांति भूमि को देख कर निर्जीव

भूमि में परठना अपहृत्यसंयम है। इसे परिष्ठापना-संयम भी कहते हैं।

मन में क्रोध, अभिमान, कपट, ईर्षा, द्वेष आदि उत्पन्न होना, वचन से असत्य, हिंसाकारी एवं असभ्य वचन बोलना और शरीर से पापजनक कार्य करना क्रमशः मन, वचन और काय का असंयम है। इन असंयमों का त्याग करना मन, वचन और काय का संयम है।

भाइयो ! इस जगत् में अनन्त जीव हैं। उनकी हिंसा से बचने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए। शुद्ध भावना और सावधानतायुक्त प्रवृत्ति के द्वारा ही हिंसा से बचा जा सकता है। केवल पृथ्वीकाय के ही जीवों को लीजिए तो बादर जीव भी असंख्यात हैं और उनकी सात लाख योनियां हैं। जैनों के अतिरिक्त दूसरे भी चौरासी लाख जीवयोनियां कहते हैं। मगर कोई आपसे पूछे कि चौरासी लाख जीवयोनियां किस प्रकार हैं, तो शायद ही आपमें से कोई बतला सके। पृथ्वीकाय की सात लाख योनियां किस प्रकार होती हैं, यह जानने की विधि इस प्रकार है–जितने लाख योनियां हों; प्रत्येक लाख के पीछे पचास लीजिए। जैसे सात लाख के पीछे साढ़े तीन सौ होते हैं। पृथ्वीकाय की योनियों में पांच वर्ण होते हैं। किसी में काला, किसी में पीला; किसी में नीला, किसी में लाल और किसी में श्वेत। अतएव ३५० का पांच से गुणाकार कर देने पर १७५० संख्या आती है।

यह १७५० कोई सुगंध वाली और कोई दुर्गन्ध वाली होती हैं। अतएव दो से गुणाकार करने पर ३५०० भेद हो जाते हैं। यह ३५०० प्रकार की योनियां पांच रस वाली होती हैं। किसी में खट्टा, किसी में मीठा, तिक्त, कटुक या कसैला रस होता है। अतएव ३५००×५ का गुणाकार करने पर १७५०० भेद हो जाते हैं। परन्तु इनमें भी आठ स्पर्श पाये जाते हैं। किसी में शीत, किसी में उष्ण, किसी में हलका और किसी में भारी आदि। अतएव १७५०० का आठ से गुणाकार करने पर १४०००० भेद हो जाते हैं। पर इन भेदों में भी पांच संस्थान (आकार) पाये जाते हैं। अतएव उक्त संख्या को पांच से गुणित करने पर ७००००० भेद हो जाते हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के इस प्रकार सात लाख उत्पत्ति-स्थान हैं।

इस पद्धति से अन्यान्य कायिक जीवों की योनियां की गणना की जाय तो चौरासी लाख योनियां होती हैं, जलकायिक जीवों की, अग्निकाय तथा वायुकाय के जीवों की, सात-सात लाख योनियां हैं। वनस्पतिकाय में दश लाख प्रत्येक की और चौदह लाख साधारण वनस्पति की योनियां हैं। दोनों मिलकर चौबीस लाख होती है।

इन एकेन्द्रिय जीवों को भी हमारे ही समान सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। अतएव इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हमारे किसी कार्य से इन्हें कष्ट न पहुंचे। कम से कम निरर्थक

कष्ट न पहुँचाने से तो बचना ही चाहिए। जैनेतर इनमें से बहुत-से जीवों को जीव ही नहीं समझते, परन्तु जिनवाणी के प्रताप से हम लोगों को इसका ज्ञान है। उस ज्ञान का सदुपयोग करना चाहिए।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवों में तो स्पष्ट रूप से ही चेतना प्रतीत होती है। इन सब की दो-दो लाख योनियां हैं। इनका आरम्भ-समारम्भ करना और कष्ट पहुँचाना भी असंयम है। पंचेन्द्रिय जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं, उन्हें किसी भी प्रकार से कष्ट पहुँचाना भी असंयम है।

अभिप्राय यह है कि मुमुक्षु जीव की प्रकृति अत्यन्त सन्तुलित, सतर्कतायुक्त और विवेकयूत होती है। वह अपने मन का, वचन का और काय का जो भी व्यापार करता है उसमें इस बात का बराबर ध्यान रखता है कि किसी भी जीव को कष्ट न पहुंचने पावे, मगर अज्ञान जीव निरर्थक ही असंयम करके पाप के भागी बन जाते हैं, कोई बर्त्तन पानी, दूध, घी या तेल आदि किसी तरह वस्तु से भरा और खुला रख दिया, उसे खयाल नहीं कि इसमें मक्खियां पड़ जाएँगी और उनके प्राण चले जाएँगे। अगर उस पात्र को ढंक दिया जाय तो सहज ही असंयम से बचाव हो जाता है।

कई लोग रात्रि में पीने के लिए पानी का लोटा खाट के

नीचे भर रखते हैं और जब प्यास लगती है तो बिना देखे-भाले ही पी जाते हैं कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पानी पर लाल कीड़ियां चढ़ जाती हैं और गिर जाती हैं, बिना देखे पानी पी लेने से वे कीड़ियां पेट में चली जाती हैं।

कई लोग बिना देखे जूते पैरों में पहन लेते हैं, उसमें अगर कोई बिच्छू होता है तो फौरन डंक लगा देता है। दूसरे कोई जीव हों तो मसल जाते हैं। बिना प्रयोजन ही अनर्थ और असंयम हो जाता है।

यह सब छोटी-छोटी बातें भी जीवन को असंयम के पाप से युक्त बनाती हैं। जो भी काम अयतना से किये जाते हैं, वे असंयमजनक ही होते हैं। अतएव विवेकवान् व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह जो भी प्रवृत्ति करे, यतना के बिना न करे। जो मनुष्य अपने छोटे से छोटे जीवन व्यापार में भी यतना-अयतना का ध्यान रखता है और विवेक को विस्मृत नहीं करता, वह अनायास ही, और कोई हानि उठाये बिना ही, बहुत-से पापों से बच जाता है।

जैनधर्म के समस्त आचार निरुपण का केन्द्र संयम है। जो भी क्रिया संयम में बाधक है, वह असंयम है और त्याज्य है; ऊपर जो सत्तरह प्रकार का असंयम भी बतलाया है, उसी से सत्तरह प्रकार का संयम भी समझा जा सकता है। फिर भी

संयम के स्वरूप की विशालता प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रकार ने असंयम के पश्चात् संयम के सत्तरह भेद बतलाए हैं, सत्तरह प्रकार के असंयम का त्याग ही सत्तरह प्रकार का संयम है।

आगे बतलाया गया है कि मानुषोत्तर पर्वत सत्तरह सौ इक्कीस योजन ऊँचा है।

आपको विदित होगा कि मध्यलोक में असंख्यात् द्वीप और असंख्यात ही समुद्र हैं, यह सब द्वीप और समुद्र एक दूसरे को चारों ओर से घेरे हुए अवस्थित हैं, सबके बीच में एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है, उसे चारों तरफ से घेरे लवणसमुद्र है लवणसमुद्र को घेरे हुए धातकीखण्ड द्वीप है और इस द्वीप को घेरे हुए कालोदधि समुद्र है। कालोदधि समुद्र को चारों ओर से घेर कर पुष्कर द्वीप है। मगर पुष्कर द्वीप में मानुषोत्तर नामक पर्वत आ गया है, जिसके कारण वह द्वीप दो भागों में विभक्त हो गया है। इस प्रकार दो समुद्र और अढ़ाई द्वीप जितना क्षेत्र साधारणतया अढ़ाई द्वीप कहलाते हैं, इस अढ़ाई द्वीप के भीतर ही भीतर मनुष्य रहते हैं, आगे नहीं। इसी कारण वह पर्वत मानुषोत्तर पर्वत कहलाता है। उसी की ऊँचाई यहां सत्तरह सौ इक्कीस योजन बतलाई गई है।

मानुषोत्तर पर्वत के ही समान सब वेलन्धर, अनुवेलन्धर तथा नागराजा के आवास पर्वत सत्तरह सै इक्कीस योजन ऊँचे हैं।

लवणसमुद्र के भीतर ६५ हजार योजन जाने पर दस हजार योजन के चक्रवाल वाला पानी है। वहां सोलह हजार योजन ऊँचा आकाश में गया हुआ है और एक हजार योजन गहरा है। इस प्रकार लवणसमुद्र का पानी सत्तरह हजार योजन का कहा गया है।

इस रत्नप्रभा नामक भूमि के समतल रमणीक भूभाग से सत्तरह हजार योजन से कुछ अधिक ऊपर विद्याचारण और जघांचारण मुनियों की तिर्छी गति आगति होती है।

तीर्थङ्करों की वाणी सुन कर जंघाचारण या विद्याचारण मुनियों को देखने की इच्छा हो जाती है तो वे अपनी विद्या के बल से आकाश में गमन करते हैं। जैसे ऊपर जाकर विमान तिर्छी गति करते हैं, उसी प्रकार वे मुनिराज भी सत्तरह हजार योजन ऊपर जाकर तिर्छी गति करते हैं।

आज वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में, विद्या-बल से इतना ऊपर जाने और फिर तिर्छी गति करने की बात में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। वैज्ञानिक आज जितनी उँचाई पर पहुंचे हैं, उससे भी अधिक उँचाई पर जाने के उल्लेख हमारे यहां हजारों वर्ष पहले से मौजूद हैं। यों तो विद्या और विज्ञान के शब्दार्थ में बहुत अधिक अन्तर नहीं है, फिर भी शास्त्रोक्त विद्या आत्मिक बल पर आश्रित थी और विज्ञान भौतिक बल पर निर्भर है।

भौतिक बल की अपेक्षा आत्मिक बल अधिक प्रबल होता है, अतएव विद्या के आधार पर होने वाली गति भी अधिक क्षमताशील हो, यह स्वाभाविक है।

असुरकुमार देवों के राजा चमरेन्द्र का तिगिंछकूट नामक उपपातपर्वत १७२१ योजन ऊँचा कहा है और बलेन्द्र का रुचकेन्द्र नामक उपपातपर्वत भी इतना ही ऊँचा कहा है।

भाइयो! 'जातस्य ही ध्रुवं मृत्युः' अर्थात् जिसने जन्म लिया है, उसका मरण अवश्यंभावी है, यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका कोई अपवाद नहीं हो सकता। प्रत्येक प्राणी को मृत्यु का सामना करना पड़ता है। तत्त्वज्ञानियों के जन्म और मरण के विषय में जो विज्ञान प्राप्त किया है, उसका कतिपय अंश हमें शास्त्रों में निबद्ध किया हुआ उपलब्ध होता है। उसी से प्रतीत होता है कि उनकी विचारणा कितनी गहन और सूक्ष्म थी। साधारणतया लोग श्वासोच्छ्वास के आत्यन्तिक विराम को ही मृत्यु समझते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं-मरण सत्तरह प्रकार का है। उनका नाम और स्वरूप इस प्रकार है:-

(१) आवीचिमरण-जन्म के बाद क्षण-क्षण में आयुकर्म के दलिकों का क्षय होना। वस्तुतः जितने अंशों में आयु के दलिकों का क्षय होता जाता है, उतने अंशों में जीव का मरण होता जाता है। इस दृष्टि से जीव क्षण-क्षण में मृत्यु का ग्रास हो

रहा है। प्रत्येक पल, सैकिंड, मिनिट, घण्टे, दिन, मास और वर्ष में आयु क्षीण हो रही है। जैसे दरार वाले मटके में से पानी कम होता जाता है, उसी प्रकार आयु भी निरन्तर घटती जाती है। फिर भी अबोध मानव अपने को अजर-अमर समझ कर आरम्भ-समारम्भ में अनुरक्त रहता है और आत्महित की उपेक्षा करता है।

(२) अवधिमरण—नरक आदि गतियों के कारणभूत आयु-कर्म के दलिकों को एक बार भोग कर छोड़ देने के बाद जीव उन्हीं पुद्गलों को फिर भोग कर मृत्यु प्राप्त करे, इस बीच की अवधि को अवधिमरण कहते हैं।

(३) आत्यन्तिकमरण—आयु कर्म के जिन दलिकों को एक बार भोग कर त्याग दिया है, उन्हें फिर कभी न भोगना, उन दलिकों की अपेक्षा से आत्यन्तिकमरण कहलाता है।

(४)वलन्मरण—संयम से अथवा महाव्रतों से गिरते हुए जीव का मरण वलन्मरण कहलाता है।

कोई जीव संयम धारण कर लेता है मगर कर्मोदयवश उसे निभा नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वह संयम से भ्रष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ—सामायिक गृहस्थ की भी होती है और साधु की भी। मगर गृहस्थ का सामायिक व्रत परिमित काल का होता है। परिमित ही काल के लिए वह सामायिक अंगीकार

करता है। मगर साधु की सामायिक यावज्जीवन के लिए है तो यावज्जीवन के लिए संयम अंगीकार करके कालान्तर में उससे भ्रष्ट होते हुए मरना वलन्मरण है।

कुण्डरीक और पुण्डरीक दो भाई थे। पुण्डरीक राजा बना और कुण्डरीक ने संयम अंगीकार किया। एक हजार वर्ष तक संयम पाला तब तक कोई कमजोरी नहीं आई। एक वार कुण्डरीक के शरीर में रोग उत्पन्न हुआ। पुण्डरीक ने यथोचित इलाज करवाया। जब वह स्वस्थ हो गया तो अन्य साधुओं के साथ विहार किया, मगर संयम से उसकी रुचि हट गई और वह वापिस लौट आया। आकर राजवाटिका में बैठ गया। दासी ने उसे देख कर राजा पुण्डरीक को सूचना दी कि कुण्डरीक मुनि वाटिका में पधारे हैं। राजा गया और कुण्डरीक का ढङ्ग देख कर समझ गया कि अब यह संयम पालन करने को तैयार नहीं है। पूछा—क्या राज्य चाहिए? कुण्डरीक ने मना नहीं किया। तब पुण्डरीक ने उसे अपना राज्य दे दिया और स्वयं दीक्षा अंगीकार कर ली। कुण्डरीक राज्य में और भोगोपभोग में आसक्त होकर अन्त में मर कर नरक में गया। पुण्डरीक संयम पालन करता हुआ देह त्याग कर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

जैसे किसी ने लाख रुपया इकट्ठा किया और सट्टा किया तो सब चला गया और दीवाला निकल गया, इसी प्रकार कुण्ड-

रीक ने वर्षों तक संयम पाला और थोड़े-से सुख के लिए व्रत को भंग कर दिया। फल यह हुआ कि उसे नरक का मेहमान बनना पड़ा।

(५) वशार्त्तमरण—पतंगा दीपक की लौ को देख कर उस पर टूट पड़ता है और अपने प्राण दे देता है। सुनने के लिए पागल बना हुआ हिरण शिकारी की बांसुरी सुन कर आता है और प्राणों से हाथ धो बैठता है। सर्प को भी श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत होकर पिटारी में कैद होना पड़ता है। गंध में गृद्ध भ्रमर संध्या के समय कमल के पुष्प पर बैठता है। सूर्यास्त होने पर पुष्प सिकुड़ता है तो भ्रमर उसी में बंद हो जाता है। मछली रसना-इन्द्रिय के वशीभूत हो कर प्राण गँवा देती है। यों तो शेर जंगल में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता है और जंगल का राजा कहलाता है, परन्तु शेर की मांद के पास एक पींजरा रख दिया जाता है और उसमें बकरा बांध दिया जाता है। शेर मांद से खाने की तलाश में निकलता है और बकरे की गंध पाकर पींजरे की ओर जाता है। और ज्यों ही रसनेन्द्रिय के वश होकर वह पींजरे में प्रवेश करता है, कैद कर लिया जाता है या गोली का शिकार बना दिया जाता है। स्पर्शेन्द्रिय के अधीन होकर हाथी अपनी जान गँवा बैठता है। जल के शीतल स्पर्श में आसक्त होकर भैंसा गहरे पानी में चला जाता है और मगर उसे खींच कर मार डालता है।

तो यह सब तो पशु-पक्षी हैं, बेचारे विवेकविहीन हैं। परन्तु सोचने-समझने की शक्ति से संभूषित मनुष्य भी यदि इन्द्रियों के अधीन होकर मृत्यु को निमन्त्रण देता है तो आश्चर्य होता है।

अभिप्राय यह है कि इन्द्रियविषयों के अधीन होते हुए मनुष्य का जो मरण होता है, वह वशार्त्त मरण कहलाता है और ऐसा मरण प्रशस्त नहीं है।

(६) अन्तःशल्यमरण–कई लोग हृदय में कपट रख कर साधना करते हैं। कहीं प्रतिष्ठा को धक्का न लग जाए या गौरव को क्षति न पहुँच जाय, इस प्रकार सोच कर हृदय में छल का भाव रखकर प्रायश्चित्त करते हैं। वह अपनी कल्पना से भले साहूकार बना रहे, परन्तु आत्माराम से तो कुछ छिपा हुआ नहीं है और परमात्मा से कुछ छिपा हुआ नहीं है। उन्हें उस पाप के अतिरिक्त मायाचार के भी पाप का भागी होना पड़ता है। इस प्रकार जो लोग हृदय में शल्य-कपट रख कर मरते हैं और शुद्ध भाव से सही आलोचना किये बिना ही मर जाते हैं, उनका मरण अन्तःशल्यमरण कहलाता है।

श्रीठाणांगसूत्र में बतलाया गया है कि ऐसे जीव नीच कोटि के देवता के रूप में जन्म लेते हैं और अपने से अधिक ऋद्धि, द्युति एवं कान्ति वाले देवों को देख कर पश्चात्ताप करते

हैं—हाय, संयम तो हमने भी लिया था, मगर सरलतापूर्वक अपने दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट नहीं किया, अतएव यह दुर्गति हुई।

इस प्रकार अन्दर शल्य रख कर मरने से नीच गति की प्राप्ति होती है, यह जान कर साधक को अपना हृदय सरल और स्वच्छ रखना चाहिए और अन्तिम समय में शुद्ध भाव से आलोचना करना चाहिए।

(७) तद्भवमरण-किसी भव की आयु पूर्ण करके पुनः उसी भव में उत्पन्न होकर पुनः मरना तद्भव मरण कहलाता है। यह मरण तिर्यंचों और मनुष्यों का ही हो सकता है, क्योंकि यही जीव मर कर पुनः उसी भव में उत्पन्न हो सकते हैं। देव और नारक मर कर देव और नारक नहीं होते, अतएव उनको तद्भवमरण भी नहीं हो सकता।

(८) बालमरण-त्याग-प्रत्याख्यान से रहित जीवों का मरण। यहां बाल का अर्थ है अज्ञान-अविरत। उम्र से बड़ा होने पर भी जो जीव पाप से आंशिक रूप में भी विरत नहीं हुआ है, उसे भगवान् ने बाल कहा है।

(९) पण्डितमरण-जिसने हिंसा आदि समस्त पापों का तीन करण तीन योग से त्याग कर दिया है, वह विवेकी पण्डित कहलाता है। उसका मरण पण्डितमरण कहलाता है।

(१०) बालपण्डितमरण–बाल-पण्डित का अर्थ है देशविरत श्रावक। जितने अंश में त्याग नहीं है उतने अंश में बालपन है और जितने अंश में त्याग है उतने अंश में पण्डितपन है। उसकी मृत्यु बालपण्डितमरण है।

(११) छद्मस्थमरण–केवलज्ञान प्राप्त किये बिना ही छद्मस्थ अवस्था में मरना।

(१२) केवलीमरण–केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् निर्वाण प्राप्त करना।

(१३) वैहायसमरण–विहायस् अर्थात् आकाश में होने वाली मृत्यु जैसे-वृक्ष की शाखा पर लटक कर मरना या फांसी लगा कर मरना।

आये दिन समाचार पत्रों में ऐसे मरण के समाचार आते रहते हैं। कोई गृहकलह से उकता कर फांसी के फन्दे में लटक जाता है तो कई विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर सोचते हैं कि कैसे माता-पिता को मुँह दिखलाएँ। कोई बम्बई के राजा बाई टावर से कूद पड़ते हैं तो कोई दिल्ली की कुतुबमीनार से। आत्मघात करने वालों की संख्या कम नहीं हो रही बल्कि बढ़ती है। परन्तु आत्मघात घोर पाप है और इस पाप का आचरण करने वालों को नरकगति में जाना पड़ता है।

(१४) गृद्धपृष्ठमरण–शरीर को मांसाहारी प्राणियों का

भक्ष्य बन जाने देना और इस प्रकार जीवन का अन्त हो जाना गृद्धपृष्ठ मरण कहलाता है। शरीर का मांस भक्षण करने के लिए आये हुए प्राणियों को न रोकने से अथवा गिद्ध आदि के द्वारा खाये जाते हुए हाथी आदि के कलेवर में प्रवेश कर जाने से यह मरण होता है।

(१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण–अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक तीन या चार प्रकार के आहार के त्यागपूर्वक होने वाली मृत्यु।

साधक पुरुष मृत्यु को सामने उपस्थित देख कर भी भयभीत नहीं होते। वे अपने देह को भी पर-पदार्थ मानते हैं, अतएव उस पर उनका अनुराग नहीं होता। ऐसी स्थिति में वह बना रहे तो उन्हें कोई हर्ष नहीं और न रहे तो कोई विषाद नहीं। वे प्रत्येक दशा में समभाव में ही स्थित रहते हैं। कहा है –

मरने से जग डरता है, मुझ मन बड़ा उमंग।
कब मरस्या कब भेटस्यां, पूरण परमानन्द ॥

जिनका जीवन संयम में व्यतीत हुआ है, जिसने धर्मपूर्वक ही जीवन यापन किया है और पापों का आचरण नहीं किया है, उसे मरण का भय क्यों हो? मरने से डरते हैं वे जो जिंदगी भर पाप के कीचड़ में फँसे रहे हैं। धर्मनिष्ठ संयमपरायण मनुष्य मृत्यु को महोत्सव मानता है या मित्र समझता है। जिसकी बदौलत मानव जर्जरित, अशुचि एवं कृमिकुलकलित

कलेवर से छुटकारा पाता है, जिसकी कृपा से आजीवन सेवन किये गये व्रत-उपवास आदि का फल सन्निकट आ जाता है और जिसकी सहायता के बिना स्वर्ग-मोक्ष का वैभव प्राप्त नहीं हो सकता, उस मृत्यु रुपी परममित्र के मिलने पर शोक, दुःख या भय नहीं होना चाहिए।

भाइयों ! लौकिक दृष्टि से भी वही वीर पुरुष जाति, देश या समाज का महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है जो मौत से नहीं डरता। जो मरने से डरता है वह कायर कुछ नहीं कर सकता। जैन दिवाकरजी म० कहा करते थे—

देखा-देखी बांध ली हींजड़ो तलवार।
सूतन में मूतन लगा, जब चलन लगी तलवार॥

किसी गांव को लूटने के लिए डाकू आ गए, उस गांव के लोगों ने उनका मुकाबिला करने का विचार किया, सब लोग लाठियां और तलवार लेकर तैयार हो गए। उसी गांव में एक हिंजड़ा भी रहता था। उसे भी जोश आ गया और उसने कहा—मैं भी संग्राम में जूझने के लिए चलूँगा।

लोगों ने मना किया। कहा—वहां तुम्हारा काम नहीं हैं। तुम यहीं रहो।

मगर हिंजड़ा माना नहीं और तलवार लेकर लड़ने को तैयार हो गया। जब डाकुओं का सामना हुआ, तलवारें चमकीं

और दोनों ओर से भीम गर्जन-तर्जन होने लगा तो हिंजड़े का कलेजा कांपने लगा। वह तालियां बजाता हुआ मैदान से भाग निकला। उसने सोचा—यहां ठहरने से बेमौत मारे जाएँगे।

तात्पर्य यह है कि जो पद-पद पर मौत से डरता है, वह कोई वीरता प्रदर्शित नहीं कर सकता, संयमी पुरुष में ऐसी वीरता होती है कि वह मौत से जरा भी भयभीत नहीं होता। उसे मौत भयंकर दीखती ही नहीं है। अतएव जब वह समीप आती प्रतीत होती है तो वह आहार का त्याग करके उसे गले लगाने को उद्यत हो जाता है। जीवन और मरण में उसका समभाव अखण्डित रहता है।

(१६) इंगिनीमरण—जीवन पर्यन्त के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करके एवं नियत स्थान में हिलने डुलने की छूट रखकर जो मरण होता है वह इंगिनीमरण है।

(१७) पादयोपगमनमरण—जैसे कटी हुई वृक्ष की शाखा बिना हिले-डुले एक ही स्थान पर पड़ी रहती है, उसी प्रकार संथारा करके एक जगह लेट जाय और फिर उसी प्रकार लेटे रहकर मृत्यु हो जाए, वह पादयोपगमनमरण कहलाता है। इस संथारे को अंगीकार करने वाला साधक न चलता-फिरता है, न हाथ-पांव हिलाता है, न किसी से परिचर्या करवाता है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है और हमारा अनुभव उस कथन

का पोषक है कि जिसने जन्म लिया है, उसे मरना पड़ेगा और वह मरण प्रतिक्षण हो रहा है, भले ही बाप कहे कि मेरा बेटा इतने वर्षों का हो गया, मगर तथ्य तो यह है कि उसकी आयु में से उतने वर्ष कट गये हैं और उतने अंशों में उसकी मृत्यु हुई है। किन्तु यह निसर्ग का अनिवार्य विधान है। उसे रोका नहीं जा सकता। मगर जो समय बीत गया है उसकी चिन्ता न करतेहुए जो शेष है उसका सदुपयोग करके उसे सार्थक बनाना चाहिए। ऐसा करने से भविष्य मंगलमय बन जाएगा।

•

संसार के प्रत्येक प्राणी को मृत्यु का भय सता रहा है। स्वर्ग में निवास करने वाले देव भी इसके चंगुल में फँसे हैं तो मर्त्य लोक के निवासियों का तो कहना ही क्या है? अनादि काल से आत्मा अब तक इसके चक्कर से बाहर नहीं निकल सका है, परन्तु ज्ञानियों का कथन है कि मृत्यु अपराजेय नहीं है। उसे जीता जा सकता है और जो तपस्या के मार्ग पर चले हैं उन्होंने जीता भी है। आप भी उसे जीत सकते हैं; केवल सुदृढ़ मनोबल और तदनुसार प्रवृत्ति करने की आवश्यकता है। मानवभव ही मृत्युञ्जय बनने के लिए उपयुक्त है। कहा भी है—

सूरत से कीरत बड़ी, बिन पाखां उड़ जाय।
सूरत तो दीसे नहीं, कीरत ही रह जाय॥

भाइयो! ये सूरतें सब म्यादी हैं, सौ वर्ष से ज्यादा कोई

टिकने वाली नहीं है। जनगणना के अनुसार आज मनुष्यों की संख्या लगभग पौने तीन अरब है। मगर सौ वर्ष की अधिक से अधिक आयु भोग कर सब चले जाएँगे। न कोई स्थायी रहा है न रह सकता है। फिर भी लोगों की तृष्णा कितनी बढ़ी हुई है? सब जैसे सोचते हों-मरेंगे तो दूसरे ही मरेंगे, हम तो अमर हैं।

तो ज्ञानी कहते हैं—इस भ्रम में मत रहो और अपने जीवन को संयममय बना लो। ऐसा करने से मृत्यु भी पराजित हो जाएगी। इस जीवन में नहीं तो अगले कुछ जीवनों में अवश्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकोगे।

इस प्रकार के उपदेश को सुन कर, शास्त्र साक्षी हैं कि, अनेक सेठों, साहूकारों, सेनापतियों, राजाओं और महाराजाओं ने अपने विपुल वैभव और साम्राज्य को तृण की तरह त्याग कर तपस्या का पथ अंगीकार किया और मृत्यु को मार कर शाश्वत सिद्धि प्राप्त की।

जो शुभ करनी करते हैं उन्हें दुःख के समय में भी सुख के साधन मिल जाते हैं और वे इस लोक तथा परलोक में सुखी होते हैं।

इसके पश्चात् शास्त्रकार कहते हैं—सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें गुणस्थान में वर्त्तमान मुनिराज सत्तरह कर्म प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। यथा—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण

(३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्यायज्ञानावरण (५) केवलज्ञानावरण (६) चक्षुदर्शनावरण (७) अचक्षुदर्शनावरण (८) अवधिदर्शनावरण (९) केवलदर्शनावरण (१०) सातावेदनीय (११) यशःकीर्त्तिनामकर्म (१२) उच्चगोत्र (१३) दानान्तराय (१४) लाभान्तराय (१५) भोगान्तराय (१६) उपभोगान्तराय और (१७ वीर्यान्तराय।

रत्नप्रभा नामक पृथ्वी में कितनेक नारक सत्तरह पल्योपम की स्थिति वाले हैं। पांचवें नरक में उत्कृष्ट आयु सत्तरह सागरोपम की है।

असुरकुमार जाति के किसी-किसी देवता की स्थिति सत्तरह पल्योपम की है। पहले और दूसरे देवलोक में भी किसी-किसी देवता की सत्तरह पल्योपम की स्थिति है। महाशुक्र देवलोक में देवों की उत्कृष्ट स्थिति सत्तरह सागरोपम की है। सहस्रार देवलोक में जघन्य स्थिति सत्तरह सागरोपम की है।

सातवे देवलोक में जो देव सामान, सुसामान, महासामान पद्म, महापद्म, कुमुद, महाकुमुद, नलिन, महानलिन, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शुक्र, महाशुक्र, सिंह, सिंहकान्त, सिंहविद और भाविक (त) विमान में देवरूप से उत्पन्न होते हैं, उनकी सत्तरह सागरोपम की स्थिति कही गई है। वे देव सत्तरह पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। सत्तरह हजार वर्ष में उन्हें आहार की इच्छा होती है।

कितनेक भव्य जीव सत्तरह भव करके सिद्ध होंगे यावत् समस्त दुःखों का अन्त करेंगे।

अमरसेन-वीरसेन चरित-

किस प्रकार भव्य जीव सिद्धि प्राप्त करते हैं और मृत्युञ्जय बनते हैं, यही बात चरित द्वारा भी आपको बतलाई जा रही है। कल कहा गया था कि चालाक गणिका किस प्रकार अमरसेन को झांसा देकर समुद्र के मध्य में बने हुए पूर्णादेवी के मन्दिर में ले जाती है।

अमरसेन दिव्य खड़ाऊँ पहन कर और वेश्या को अपने कंधे पर बिठलाकर मन्दिर में जा पहुंचा। वहां पहुंचने के बाद वेश्या ने उससे कहा—नाथ! आप पूजनसामग्री का थाल लेकर जाइए और निर्मल मन, वचन तथा काय से देवी की अर्चना कीजिए। इच्छा होती है, मैं भी आपके साथ चलती, मगर क्या किया जाय? देवी के इस मन्दिर के अन्दर औरतें जा नहीं सकतीं और न देवी का स्पर्श ही कर सकती हैं।

अमरसेन ने कहा—देवी को स्त्रियों से परहेज कैसे हो सकता है? परहेज हो तो पुरुषों से होना चाहिए।

वेश्या बोली—आपका तर्क तो सही है, मगर यहां का कुछ ऐसा ही नियम है। देवी-देवता के नियम के औचित्य-

अनौचित्य का विचार हमारी मर्यादा से बाहर है। उसे तो सिर नमा कर स्वीकार ही करना चाहिए। इसमें कुछ हानि भी नहीं है। मैंने दूर से ही दर्शन कर लिए हैं। आप भीतर जाकर पूजा कर आइए और उसकी कृपा की याचना कर लीजिए।

अमरसेन को कल्पना नहीं थी कि धूर्त्त वेश्या ने अब की बार बड़ा कठोर जाल बिछाया है। अतएव उसने कहा—ठीक है, मैं जाकर पूजन कर आता हूँ। यह कह कर उसने खड़ाऊँ बाहर खोल दिये। भीतर जाकर देवी को प्रणाम किया और विधिपूर्वक पूजा की। तत्पश्चात् हाथ जोड़कर निवेदन किया—देवी माता! तेरी मुझ पर पूर्ण कृपा है कि यह स्त्री मुझे पुनः प्राप्त हो गई। अब हमारी जोड़ी अचल बनी रहे।

भाइयो! देवी हो, देवता हो या परमात्मा हो, प्रत्येक के सामने मनुष्य अपने स्वार्थ की ही बात करता है। अमरसेन ने भी देवी के समक्ष अपने स्वार्थ की बात की। उधर वेश्या ने सोचा—अमरसेन देवीपूजा में मस्त है, यही अच्छा मौका है चकमा देने का। बस, उसी समय खड़ाऊँ पहन कर वह आकाश में उड़ी और अपने घर आ गई।

अमरसेन देवीपूजा करने के पश्चात् बाहर आया तो देखा कि श्रीमतीजी नदारद हैं। उसने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई पर कहीं भी दिखाई न दी। सोचा—उसे कोई शरारत सूझी होगी और

कहीं छिप गई होगी। मैं भी किसी कोने में छिप जाऊँ। थोड़ी देर में वह स्वयं मुझे ढूंढती फिरेगी। वह एक कोने में छिप कर बैठ गया, मगर कुछ देर प्रतीक्षा करने पर जब कहीं कोई आसार नजर न आया तब वह प्रकट हो कर आवाज देने लगा-अजी, कब तक छिपी रहोगी? ऐसा मजाक मुझे अच्छा नहीं लगता। जहां कहीं हो ओ, सामने आ जाओ।

इतना कहने पर और कुछ देर प्रतीक्षा करने पर भी जब वह सामने न आई तो अमरसेन को कुछ चिन्ता हुई। उसने दूसरी बार फिर इधर-उधर खोज की। किन्तु हो तो दिखाई दे। वह तो अमरसेन को बता बता कर पहले ही नौ दो ग्यारह हो चुकी थी।

रावण जब सीता को जबर्दस्ती पकड़ कर ले गया और राम लौट कर कुटिया में आए तो सीता को न पाकर जंगल में भटकते विलाप करने लगे। उन्होंने सब जगह उसे तलाश किया पेड़ों से पूछा, पत्तों से पूछा। आखिर निराश हो कर अपनी कुटिया में आ गए। इसी प्रकार वेश्या के प्रेम में पागल बना हुआ अमरसेन भी उसे इधर-उधर सर्वत्र खोजने लगा, मगर न कहीं सूरत दिखाई दी न कोई आहट मिली।

अमरसेन अत्यन्त चिन्तित हो गया। उसकी समझ में

अनौचित्य का विचार हमारी मर्यादा से बाहर है। उसे तो सिर नमा कर स्वीकार ही करना चाहिए। इसमें कुछ हानि भी नहीं है। मैंने दूर से ही दर्शन कर लिए हैं। आप भीतर जाकर पूजा कर आइए और उसकी कृपा की याचना कर लीजिए।

अमरसेन को कल्पना नहीं थी कि धूर्त्त वेश्या ने अब की बार बड़ा कठोर जाल बिछाया है। अतएव उसने कहा-ठीक है, मैं जाकर पूजन कर आता हूँ। यह कह कर उसने खड़ाऊँ बाहर खोल दिये। भीतर जाकर देवी को प्रणाम किया और विधिपूर्वक पूजा की। तत्पश्चात् हाथ जोड़कर निवेदन किया—देवी माता! तेरी मुझ पर पूर्ण कृपा है कि यह स्त्री मुझे पुनः प्राप्त हो गई। अब हमारी जोड़ी अचल बनी रहे।

भाइयो! देवी हो, देवता हो या परमात्मा हो, प्रत्येक के सामने मनुष्य अपने स्वार्थ की ही बात करता है। अमरसेन ने भी देवी के समक्ष अपने स्वार्थ की बात की। उधर वेश्या ने सोचा-अमरसेन देवीपूजा में मस्त है, यही अच्छा मौका है चकमा देने का। बस, उसी समय खड़ाऊँ पहन कर वह आकाश में उड़ी और अपने घर आ गई।

अमरसेन देवीपूजा करने के पश्चात् बाहर आया तो देखा कि श्रीमतीजी नदारद हैं। उसने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई पर कहीं भी दिखाई न दी। सोचा-उसे कोई शरारत सूझी होगी और

कहीं छिप गई होगी। मैं भी किसी कोने में छिप जाऊँ। थोड़ी देर में वह स्वयं मुझे ढूंढ़ती निकलेगी। वह एक कोने में छिप कर बैठ गया, मगर कुछ देर प्रतीक्षा करने पर जब कहीं कोई आकार नजर न आया तब वह प्रकट हो कर आवाज देने लगा—अरी, अब तक छिपी रहोगी? ऐसा मजाक मुझे पसन्द नहीं लगता। जहाँ कहीं हो वहाँ, सामने आ जाओ।

इतना कहने पर और कुछ देर प्रतीक्षा करने पर भी जब वह सामने न आई तो अमरसेन को कुछ चिन्ता हुई। उसने दूसरी बार फिर इधर-उधर खोज की। किन्तु हो तो दिखाई दे। वह तो अमरसेन को धता बता कर पहले ही नौ दो ग्यारह हो चुकी थी।

रावण जब सीता को जबर्दस्ती पकड़ कर ले गया और राम लौट कर कुटिया में आए तो सीता को न पाकर जंगल में भटकते विलाप करने लगे। उन्होंने सब जगह उसे तलाश किया पेड़ों से पूछा, पत्तों से पूछा। आखिर निराश हो कर अपनी कुटिया में आ गए। इसी प्रकार वेश्या के प्रेम में पागल बना हुआ अमरसेन भी उसे इधर-उधर सर्वत्र खोजने लगा, मगर न कहीं सूरत दिखाई दी न कोई आहट मिली।

अमरसेन अत्यन्त चिन्तित हो गया। उसकी समझ में

नहीं आता था कि वह कहां गायब हो गई ? सोचने लगा-कहीं सो गई है और मेरी खड़ाऊँ भी छिपा गई है। सच है-विषयी मनुष्य आंखें रहते भी अंधा बन जाता है। उसकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है।

जब काफी देर हो गई और वेश्या के वहां होने का कोई आसार नजर न आया तब उसे होश आया। उसके हृदय को गहरा आघात लगा। उसे विचार आया-वह विश्वासघातिनी ने फिर मेरे साथ विश्वासघात किया। वह बोलती थी मीठा मगर उसके हृदय में भयंकर विष भरा था। इसी कारण उसने कहा था कि देवी के मन्दिर में स्त्रियां प्रवेश नहीं करतीं। मैं नहीं जानता था कि वह मेरे साथ इतना बड़ा धोखा करेगी। वह मुझे अन्दर भेज कर और इस शून्य-जनहीन स्थान में एकाकी छोड़ कर भाग जाना चाहती थी। अब यहां कोई सहायता करने वाला भी तो नहीं है। मैं भी किस प्रकार उस ठगिनी की बातों में आ गया।

भाइयो ! मनुष्य जब दुःख से घिर जाता है तो कोई-कोई तो उस दुःख को सहन कर लेता है और जो सहन नहीं कर सकते वे आंसू बहाने लगते हैं। वे यह नहीं सोच पाते कि आखिर तो चुप होना ही पड़ेगा। कहां तक रोते रहेंगे ? और

रोना तो दुःख के प्रतीकार का उपाय नहीं है। बल्कि रोने और घबड़ाने से दुःख का मुकाबिला एवं प्रतीकार करने की शांति नष्ट हो जाती है।

परन्तु जो जीव पुण्यवान् होते हैं, उन्हें दुःख आता भी है तो अधिक समय तक नहीं ठहर पाता। वह उन्हें सावधान करने के लिए आता है और कुछ ही समय में चला जाता है।

सूर्य उदय होता है और अस्त भी होता है। वृक्ष के पुराने पीले पड़े हुए पत्ते खिर जाते हैं और नवीन कोंपलें लह-लहाने लगती हैं। इसी प्रकार जीवन में कभी दुःख आता है तो उसके बाद सुख भी आ जाता है। दुःख के बाद आने वाला सुख अधिक मधुर होता है। अन्धकार न होता तो प्रकाश का महत्त्व और मूल्य समझ में न आता। दुःख न होता तो सुख की सही कीमत आंकना कठिन था। अतएव जब दुःख आ पड़े तो घबराना नहीं चाहिए और साहस के साथ उसका सामना करना चाहिए। किसी भी महान् पुरुष के जीवन वृत्त का अध्ययन कीजिए, ज्ञात होगा की उसने दुःखों के साथ संघर्ष करके ही महत्ता प्राप्त की थी। दुःख से जीवन की कुंठित शक्तियां खिल उठती हैं। अतएव दुःख भी जीवन विकास के लिए किसी हद तक उपयोगी है।

हां, तो अमरसेन दान देकर आया है और पुण्य का संचय करके आया है। ऐसे पुण्यवान् जीव पर अगर दुःख आता है तो उसको मिटाने का उपाय भी शीघ्र मिल जाता है।

अमरसेन के सामने अकस्मात् जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई, उसके कारण वह किंचित् काल के लिए हत-बुद्धि-सा हो गया। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि अब क्या करना चाहिए। वह सोचने लगा-मैं बीच समुद्र में फँस गया हूँ। न कोई सहायता करने वाला मनुष्य है, न कोई नौका है जिसकी सहायता से किनारे लग सकूँ, कितनी भीषण स्थिति है।

अमरसेन इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि अचानक एक विद्याधर विमान में आरूढ़ होकर उधर से जा रहा था। वह सीमन्धर स्वामी के दर्शन करने के लिए महाविदेह क्षेत्र जा रहा था। उसका विमान मन्दिर के ऊपर होकर गुजरा तो सहसा अटक गया-आगे नहीं चल सका। विद्याधर ने सोचा—एकदम विमान रुकने का क्या कारण हो सकता है? विद्या समाप्त हो गई है या नीचे कोई तपस्वी मुनिराज हैं? अथवा कोई वैरी है कि जिससे बदला लिये बिना यह आगे नहीं चल सकता? या कोई दुःखी व्यक्ति है जिसका दुःख मिटाये बिना आगे नहीं जा सकता? इनमें से कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए; अन्यथा विमान रुक नहीं सकता।

इस प्रकार विचार कर विद्याधर नीचे उतरा, उसने देखा—एक व्यक्ति चिन्ताग्रस्त होकर असहाय अवस्था में बैठा है।

किस प्रकार विद्याधर अमरसेन से मिलता है, कैसे वार्त्तालाप होता है और कैसे अमरसेन के संकट का अन्त आता है, यह सब आगे सुनने से ज्ञात होगा।

केन्टोनमेंट बैंगलोर
२-१०-५६

संकट-निवारण

प्रार्थना–

सिद्धाणं बुद्धाणं० ।

卐卐

समवायांगसूत्र–

भाइयो और बहिनो !

तीर्थङ्कर भगवान् की सुधास्यन्दिनी वाणी ही संसार के प्राणियों का त्राण करने वाली, शान्ति प्रदान करने वाली तथा समस्त दुःखों का अन्त करने वाली है। इस जीवन का सर्वोच्च ध्येय यही हो सकता है कि भगवद्वाणी के श्रवण का लाभ उठा कर उसे जीवन में कार्यान्वित किया जाय। यही इस लोक में हितकर है, यही परलोक में हितकर है और भविष्य में हितकर है। अतएव वही वाणी मैं आपको सुनाने का यथाशक्ति प्रयास कर रहा हूं। आप लगन और प्रेम से सुनेंगे तो आपका कल्याण होगा।

कल सत्तरहवां समवाय पूर्ण किया गया था। अब अठारहवां आरम्भ किया जा रहा है। इसके प्रारम्भ में शास्त्रकार ने बतलाया है कि ब्रह्मचर्य के अठारह भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) औदारिक शरीर सम्बन्धी कामभोगों को, जिसमें मानुषी और तिरश्ची दोनों का समावेश हो जाता है, स्वयं मन से सेवन न करे (२) दूसरे को मन से सेवन न करावे (३) सेवन करने वाले को मन से भला न जाने अर्थात् मन से भी उसका अनुमोदन न करे (४) औदारिक शरीर सम्बन्धी कामभोग को वचन से सेवन न करे (५) वचन से सेवन न करावे और (६) सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन न करे। (७) औदारिक शरीर संबंधी कामभोगों को काय से सेवन न करे (८) काय से सेवन न करावे और (९) सेवन करने वाले का काय से अनुमोदन न करे। यह नौ भेद औदारिक शरीर सम्बन्धी ब्रह्मचर्य के हैं। इसी प्रकार देवांगनाओं सम्बन्धी वैक्रियक शरीर से, मन से कामभोग का स्वयं सेवन न करना, दूसरों से मन से सेवन न कराना, सेवन करने वाले को मन से भला न जानना, वचन से सेवन न करना, न कराना और न अनुमोदन करना तथा काय से स्वयं सेवन न करना, दूसरे से सेवन न करवाना और सेवन करने वाले का अनुमोदन न करना, यह नौ भेद वैक्रियक शरीर सम्बन्धी ब्रह्मचर्य के हैं। दोनों के मिल कर अठारह भेद हो जाते हैं।

यहां पुरुष की प्रधानता से मनुष्यनी, तिर्यंचनी एवं देवां-

गना का उल्लेख किया गया है। स्त्री जाति की अपेक्षा से मनुष्य, तिर्यंच और देव समझ लेना चाहिए। यही नहीं, पुरुष का पुरुष के साथ और स्त्री का स्त्री के साथ आचरण किया जाने वाला अब्रह्मचर्य भी इन्हीं भेदों में समाविष्ट हो जाता है।

इन अठारह भेदों में जितनी न्यूनता होगी, उतने ही अंशों में अब्रह्मचर्य सम्बन्धी दोष होगा।

यों तो शास्त्रविहित सभी व्रत महान् हैं और आत्मा के कल्याण के लिए सभी की उपयोगिता है, परन्तु ब्रह्मचर्यव्रत का एक विशिष्ट महत्त्व है। शास्त्रकार कहते हैं—

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं।

ब्रह्मचर्य सब तपस्याओं में उत्तम है। ब्रह्मचर्य की साधना के अभाव में कोई भी तप कारगर नहीं होता। अतएव ब्रह्मचर्य का पालन आत्मकल्याण की दृष्टि से अनिवार्य रूप से उपयोगी है। ब्रह्मचर्य की साधना में निरत साधक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरे मन, वचन या काय के द्वारा कहीं ब्रह्मचर्य में कोई त्रुटि न होने पावे। त्रुटि के कारणों को दूर करते हुए अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न कर सके, उसे भी एकदेश ब्रह्मचर्य तो पालना ही चाहिए।

आगे बतलाया गया है कि बाइसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि भगवान् की उत्कृष्ट साधुसम्पदा अठारह हजार थी।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने समस्त साधुओं के लिए, चाहे वे बाल्यावस्था के हों या वयस्क हैं, विद्वान् हों अथवा अविद्वान् हों, अठारह स्थानक पालने योग्य कहे हैं। उनका पालन करने से संयम निर्मल रहता है।

इन अठारह बातों का विवेचन दशवैकालिक सूत्र में, छठे अध्ययन में, विस्तारपूर्वक किया गया है। यहां उन स्थानों का नामोल्लेख मात्र किया गया है।

सर्वप्रथम बतलाया गया है कि प्रत्येक साधु को छह व्रतों का पालन करना चाहिए। वह इस प्रकार हैं:-

(१) अहिंसाव्रत-किसी भी प्राणी को मन, वचन, काय से, कृत, कारित, अनुमोदना से न घात करना, न कष्ट पहुँचाना, क्योंकि प्राणी मात्र को जीवन प्रिय है। कोई भी प्राणी अपने प्राणों का वियोग नहीं चाहता। अतएव सब को अपने ही समान जान कर किसी को असाता उत्पन्न नहीं करना चाहिए।

(२) सत्यव्रत-किसी भी प्रकार के असत्य का प्रयोग न करना। जो वचन असत् हो अर्थात् तथ्य न हो तथा अप्रशस्त हो, परपीड़ाजनक हो, मर्मभेदी हो, ऐसा वचन न बोल कर आवश्यकतानुसार हित मित-प्रिय वचन बोलना सत्यव्रत है।

(३) अस्तेयव्रत–तीन करण तीन योग से अदत्तादान का त्याग करना।

(४) ब्रह्मचर्यव्रत–अठारह प्रकार के मैथुन का, जिसका स्पष्टीकरण पहले दिया जा चुका है, पूर्णरूप से त्याग करना ब्रह्मचर्य व्रत है।

(५) अपरिग्रहव्रत–तिल तुष मात्र भी परिग्रह न रखना। संयम के लिए जो उपकरण आवश्यक हैं, उन पर ममत्व न रखना।

(६) रात्रिभोजनत्याग–सूर्यास्त के बाद चार प्रकार के आहार में से किसी भी आहार का सेवन न करना और न गोचरी के लिए जाना।

(७) पृथ्वीकाययतना–पृथ्वीकाय का किंचित् भी आरम्भ-समारम्भ न करना।

(८) जलकाययतना–जल के आरम्भ का त्याग।

(९) तेजस्काययतना–अग्नि का आरम्भ न करना, क्योंकि इसके आरम्भ से भी छहों कायों का घात होता है।

(१०) वायुकाययतना–

(११) वनस्पतिकाययतना-वनस्पतिकाय के आरम्भ का त्याग करना। वनस्पतिकाय के अनेक भेद हैं। चौवीस लाख भेद

भी हैं, मगर उन सब का समावेश सात भेदों में, संक्षेप में किया जा सकता है। उनमें पहली है—कणवनस्पति। जितने भी प्रकार के कण अर्थात् दाने हैं; जैसे ज्वार, बाजरा, गेहूं और मका आदि, वे सब कणवनस्पति के अन्तर्गत हैं। दूसरी वणवनस्पति है, जैसे कपास वगैरह। तीसरी सण वनस्पति है जिसे बंगाल में पाट कहते हैं। चौथी तृणवनस्पति है, जिसमें सभी प्रकार के घास का समावेश है। पांचवीं सेलड़ी है, जैसे सांठा, गन्ना, ईख आदि। छठी वेलड़ी है अर्थात् सब प्रकार की बेलें-लताएँ, जैसे ककड़ी तरबूज, खरबूजा आदि-आदि। सातवें प्रकार की वनस्पति का नाम है—तेलड़ी, जिसमें से तेल निकाला जाता है, जैसे सरसों, तिली, अलसी, मूंगफली आदि। इन सातों वनस्पतियों के आश्रित अनेक जीव रहते हैं। वनस्पति की घात से उन जीवों का भी घात होता है।

(१२) त्रसकाययतना-द्वीन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं; क्योंकि वे सर्दी-गर्मी से बचने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हैं।

इस प्रकार षट्काय के प्राणियों की पूर्ण रूप से यतना करना कायषट्क कहा गया है।

(१३) अकल्प्य-यह तेरहवां स्थान है। वस्त्र, पात्र, कंबल और मकान जो कल्पनीय न हों अर्थात् जिनका ग्रहण करना शास्त्रविहित न हो, उन्हें न लेना।

(१४) गृहिभाजन–गृहस्थ के पात्रों को जिनमें वे खाते-पीते हैं, काम में नहीं लाना चाहिए। भगवान् ने साधुओं के लिए तीन ही प्रकार के पात्रों का विधान किया है–लकड़ी के, मिट्टी के या तूंबे के। इनके अतिरिक्त चौथे प्रकार का कोई पात्र रखना नहीं चाहिए।

(१५) पल्यंकवर्जन–साधु को पलंग, खाट आदि पर नहीं बैठना चाहिए, पाट काम में लिया जा सकता है। प्रथम तो पलंग आदि में त्रस जीव हों तो वे दृष्टिगोचर नहीं होते, दूसरे ब्रह्मचर्य की साधना के लिए भी कोमल शय्या एवं आसन स्पृहणीय नहीं है।

(१६) निषद्या वर्जन–गृहस्थ के घर जाकर बैठने का त्याग।

(१७) स्नानवर्जन–साधु को जल स्नान नहीं करना चाहिए; ब्रह्मचारी पुरुष के लिए ब्रह्मचर्य ही महान् स्नान है। स्नान काम का एक अङ्ग है और जो कामरहित है उसे स्नान से क्या प्रयोजन है ? स्नान दो प्रकार का है–सर्वस्नान और देशस्नान। साधु के लिए सर्वाङ्ग स्नान वर्जित है।

यद्यपि साधु स्नान नहीं करते तथापि वे गृहस्थों से भी अधिक शुद्ध रहते हैं। एक समय की बात है, मैं छोटी सादड़ी से विहार करता हुआ नीमच छावनी में आया और वहां एक दुकान में ठहर गया। वहीं आहार-पानी निवटाया। मेरे साथ

नानकरामजी साधु भी थे। वहां बहुत-से लोग इकट्ठे होकर हमारे पास आए और कहने लगे—महाराज ! आपके पास हम लोग आएँ तो क्या आएँ आप लोग बहुत गलीच-पलीच रहते हैं।

मैंने कहा—भाइयो ! हम यद्यपि स्नान नहीं करते हैं तो भी तुम अपना शरीर देख लो और मेरा भी शरीर देख लो ! इसके अतिरिक्त यह शरीर तो स्वभाव से ही अशुचि है। इसे समुद्र के जल से या गंगा के जल से स्नान कराओगे तब भी यह क्या शुद्ध होने वाला है ? जिसका निर्माण ही अपवित्र पदार्थों से हुआ है, वह पवित्र कैसे हो सकता है ? इस शरीर की विशेषता तो यह है कि पवित्र से पवित्र समझी जाने वाली जो वस्तु इसके सम्पर्क में आती है, वह भी अपवित्र हो जाती है। जहां मनुष्य नहीं बसता वहां कोई गंदगी नहीं होती, जहां मनुष्यों की वस्ती हुई कि गंदगी होती है। अभिप्राय यह है कि इस शरीर के शुद्ध होने की कल्पना निरी कल्पना ही है।

स्नान करने से बाहर के मैल की सफाई हो सकती है या नहीं भी होती, मगर ब्रह्मचर्य से आत्मा का मैल दूर नष्ट हो जाता है। अतएव बाहर की शुद्धि में सन्तोष मानकर मत बैठो, अन्तरात्मा को पवित्र बनाने का प्रयत्न करो। शरीर यहीं रह जाएगा और आत्मा की शुद्धि ही काम आएगी।

जो शुचि आवश्यक है वह साधु भी करते हैं, बल्कि

उतनी शायद गृहस्थ लोग भी नहीं करते होंगे। लेकिन साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण लोग निराधार बातें गढ़ लेते हैं, अपने चेले दूसरे सम्प्रदाय के साधुओं के पास जाकर उनसे प्रभावित न हो जाएँ, इस भय के कारण लोग जैन साधुओं के विरुद्ध न मालूम कितनी ऊलजलूल बातें फैला देते हैं।

जब मैंने उन लोगों को यह बतलाया और साधुओं के शौच की विधि भी बतलाई तो वह कहने लगे-हम तो कभी जैन साधुओं को हाथ भी नहीं लगाते थे, हमें पता नहीं था कि आपका आचार-व्यवहार ऐसा है। सुनी-सुनाई बातों पर ही हमने विश्वास कर लिया था।

मैंने कहा-यथार्थ स्थिति आपको मालुम भी कैसे होती? कभी पास में आते और निःसंकोच भाव से मन की शंकाओं को प्रकट करते तो समाधान होता। मन में कोई काल्पनिक धारणा बनाकर बैठे रहने से तो मनुष्य अन्धकार में ही रहता है।

तात्पर्य यह है कि साधु स्नान नहीं करते, क्योंकि 'ब्रह्मचारी सदा शुचिः' अर्थात् जो ब्रह्मचर्य व्रत का आचरण करता है, वह सदा पवित्र होता है।

(१८) शोभावर्जन-शरीर को सजाना, सँवारना, विभूषित करना साधु का कर्त्तव्य नहीं है। विषयों से विरक्त, भोगों के त्यागी, तपोधन एवं संयमनिष्ठ साधु को शरीर के शृंगार का

कोई प्रयोजन ही नहीं होता। अतएव साधु के मन में ऐसी वृत्ति ही नहीं होनी चाहिए। जो साधक अपने शरीर को सजा-सिंगार रक्खेगा, वह ब्रह्मचर्य से पतित हो जाएगा।

इस प्रकार जो भगवान् महावीर के साधु हैं, वे इन अठारह बातों का अवश्य पालन करते हैं। वे चाहे बालक हों, युवा हो या वृद्ध हों, चाहे विद्वान् हों या विद्वान् न हों; प्रत्येक को इन नियमों का पालन करना ही पड़ता है, यह आचार प्रत्येक साधु के लिए अनिवार्य है। जो इन नियमों का पालन नहीं करता उसमें साधुता नहीं रहती।

इस आचार के पालन में और अन्यत्र भी सर्वत्र विवेक की आवश्यकता है। विवेक में ही भगवान् ने धर्म बतलाया है। जहां विवेक होगा वहीं धर्म रहेगा और वहीं टिकेगा।

तत्पश्चात् सूत्रकार फर्माते हैं कि द्वादशांगी में प्रथम अङ्ग जो आचारांग है, उसके पदों का परिमाण अठारह हजार है। (यह पदपरिमाण नवाध्ययनात्मक प्रथम श्रुतस्कंध का ही समझना चाहिए।)

भगवान् आदिनाथ-ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को जो लिपि सर्वप्रथम सिखलाई थी, वह ब्राह्मीलिपि के नाम से लोक में प्रख्यात हुई और अब तक इसी नाम से विदित है। इस ब्राह्मीलिपि के लिखने के अठारह प्रकार हैं। वे इस प्रकार

हैं-(१) ब्राह्मीलिपि हिन्दी संस्कृत भाषाएँ जिसमें लिखी जाती हैं। यद्यपि कालभेद से इस लिपि में अनेक परिवर्त्तन होते रहे हैं और वह क्रम आज भी चल रहा है, तथापि मूल में वह ब्राह्मीलिपि ही है, चाहे उसमें कोई भी भाषा क्यों न लिखी जाय। (२) यवनी (३) दोसापुरिया (४) खरोष्ठी (५) पुक्खरसरिया :(६) भोगवती (७) पहराइया (८) अंतक्खरिया (९) अक्खर पुट्ठिया (१०) वैनयिकी (११) निह्नविकी (१२) अङ्कलिपि (१३) गणितलिपि (१४) गंधर्वलिपि (१५) आदर्शलिपि (१६) माहेश्वरी (१७) दोमिलिपि और (१८) पौलिन्दी।

यह सब ब्राह्मीलिपि के लिखने के प्रकार हैं, जो सर्व-प्रथम, कर्मभूमि के प्रारंभकाल में, भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री को सिखाई थी। इस लिपि के इस अतीव लम्बे काल में और विभिन्न प्रदेशों में नाना रूप विकसित हुए हैं। आज भारत में अनेक प्रकार की लिपियां प्रचलित हैं, जैसे बंगला, गुजराती, कर्णाटकी, तामिल, तेलगु; गुरुमुखी आदि। कहते हैं भारत में वर्त्तमान में एक सौ बानवें लिपियां; थोड़े थोड़े अन्तर से चल रही हैं। परन्तु इन लिपियों को यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि यह एक ही लिपि के नाना रूपान्तर हैं। तामिल तेलगू आदि कुछ दाक्षिणात्य लिपियां ऐसी अवश्य हैं जिनमें बहुत भिन्नता दिखाई देती है, पर भगवान् ऋषभदे-

के काल और आज के काल का अन्तर देखते हुए विभिन्न प्रकार के प्रभावों के कारण यह अन्तर पड़ जाना असंभव नहीं है।

भाषा और लिपि किसी की सम्पत्ति नहीं होती, जो जिस भाषा और लिपि का प्रयोग करता है, वह उसी की हो सकती है। मगर आश्चर्य की बात है कि आज भारत में भाषा को लेकर भी अनेक प्रकार के झगड़े उठ खड़े हुए हैं। भाषा सम्बन्धी विचारों की उदारता अदृश्य हो गई है और संकीर्णता लोगों के दिमाग में भर गई है क्या भाषा और क्या लिपि, मनुष्य के विचारों को व्यक्त करने का माध्यम मात्र हैं; विचारों को व्यक्त करने में जिसे जैसी सुविधा हो और अधिक से अधिक लोग जिस भाषा के द्वारा विचारों को समझ सकते हों, उसी भाषा का प्रयोग करना उचित है। मगर ऐसा करते समय राष्ट्रीयता को नजर से ओझल नहीं करना चाहिए। प्रान्तीय भावना ऐसी नहीं होनी चाहिए जिससे राष्ट्र की एकता को क्षति पहुंचती हो। स्मरण रखना चाहिए कि एकता में ही शक्ति का निवास होता है और जब राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जायगा तो प्रान्त किस आधार पर जीवित रह सकेंगे? वस्तुतः भाषा और लिपि के विषय में दुराग्रह पूर्ण दृष्टिकोण न अपना कर संगत, उदार और व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

आज अंग्रेजी भाषा के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं इस

देश में कुछ लोग ऐसे भी अंग्रेजी भक्त हैं जो अंग्रेजों के चले जाने पर भी उनकी भाषा से चिपटे रहना चाहते हैं और शासन तथा शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों में अंग्रेजी को ही कायम रखने का आग्रह कर रहे हैं। राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करके भी भाषाई या सांस्कृतिक दृष्टि से अब भी दासता से मुक्त नहीं हो सके हैं। यह ठीक हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कामों के लिए अंग्रेजी भाषा का व्यवहार किया जाय, मगर देशी काम-काज देशी भाषाओं में ही होना चाहिए और उन्हीं भाषाओं में से एक केन्द्रीय भाषा होनी चाहिए। वह भाषा स्वभावतः हिन्दी ही हो सकती है, जिसे भारत के अधिक से अधिक लोग समझते हैं।

पूज्य जवाहरलालजी महाराज कहा करते थे कि देशी भाषा अगर पत्नी के समान है तो विदेशी भाषाएँ दासियां हैं, आश्चर्य है कि लोग दासी को गले लगाना चाहते हैं और पत्नी का तिरस्कार करते हैं। इस कारण भी आज देश में फूट की प्रवृत्ति बढ़ रही है। पर देश की एकता को दृष्टि में रखकर ही इस संबंध में विचार करना चाहिए।

इसके बाद सूत्रकार कहते हैं—अस्तिनास्तिप्रवाद नामक जो पूर्व है, उसमें अठारह वस्तु है।

पांचवीं धूमप्रभा नामक जो नरकभूमि है, उसका पृथ्वी पिण्ड अर्थात् मोटाई एक लाख अठारह हजार योजन है।

पौषी तथा आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन अठारह मुहूर्त का उत्कृष्ट दिन और रात होते हैं। तात्पर्य यह है कि पौष मास की पूर्णिमा के दिन अठारह मुहूर्त्त की रात्रि और बारह मुहूर्त का दिन होता है और आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन अठारह मुहूर्त्त का दिन और बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है।

प्रथम नरक के किसी-किसी नारक जीव की स्थिति अठारह पल्योपम की है। छटे नरक में कोई-कोई नारक अठारह सागरोपम की स्थिति वाले हैं।

असुरकुमार जाति के देवों में कोई कोई देव अठारह पल्योपम की स्थिति वाले हैं। प्रथम और द्वितीय देवलोक में भी कोई-कोई देव अठारह पल्योपम की आयु वाले हैं। सहस्रार देवलोक में उत्कृष्ट स्थिति अठारह सागरोपम की कही गई है। नौवें आनत देवलोक में जघन्य स्थिति अठारह सागरोपम की है आठवें देवलोक में जो देव काल, सुकाल, महाकाल, अंजन रिष्ट, साल, समान, द्रुम, महाद्रुम, विशाल, सुशाल, पद्म, पद्मगुल्म, कुमुद, कुमुदगुल्म, नलिन, नलिनगुल्म; पुण्डरीक, पुण्डरीकगुल्म नामक विमानों में उत्पन्न होते हैं, वे अठारह सागरोपम की आयु वाले होते हैं। वे देव अठारह पक्ष में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उन्हें अठारह हजार वर्षों में आहार करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

कोई कोई भव्य जीव ऐसे हैं जो अठारह भव करके सिद्ध-बुद्ध होंगे यावत् सर्व दुःखों का अन्त करेंगे।

शास्त्रकार उन्नीसवें समवाय को प्रारम्भ करते हुए फर्माते हैं- श्रीमद् ज्ञातासूत्र में (प्रथम अध्ययन में) उन्नीस ज्ञात उदाहरण दिये गये हैं। उनमें से पहले अध्ययन का नाम उत्क्षिप्त-ज्ञात है, जिसमें बतलाया गया है कि हाथी ने किस प्रकार शशक की रक्षा की।

भाइयो! सारे जंगल में दावानल सुलग उठा। उस भयानक अग्निकाण्ड से जंगली जानवरों को जान बचाना कठिन हो गया, एक हाथी ने चार कोस की जमीन ऐसे प्रसंग पर रक्षा करने के लिए साफ कर और करवा रक्खी थी। जब आग सर्वत्र भड़की तो जंगली जानवरों ने उसी मंडल (गोलाकार क्षेत्र) में आश्रय लिया। सारा स्थान ठसाठस भर गया। ऐसे अवसर पर शरीर खुजाने के विचार से हाथी ने अपना एक पैर ऊपर उठाया। जगह खाली हुई और एक खरगोश वहां जाकर बैठ गया। उस समय हाथी ने विचार किया—यदि मैं अपना पैर नीचे रखता हूं तो बेचारे खरगोश का कचूमर निकल जायगा। अतएव उसकी प्राणरक्षा के लिए हाथी अपने पैर ऊपर ही उठाये रक्खा।

अग्नि शान्त हुई और जानवर इधर-उधर चले गए। वह खरगोश भी चला गया। हाथी ने अपना पैर धरती पर जमाने

का प्रयत्न किया तो तीन दिन तक ऊपर रहने के कारण वह मुड़ा नहीं और हाथी नीचे गिर पड़ा उसकी मृत्यु हो गई। परन्तु जीव दया के प्रभाव से वह हाथी श्रेणिक राजा की धारिणी नामक रानी की कुक्षि से पुत्र के रुप में उत्पन्न हुआ, उसका नाम मेघकुमार रक्खा गया। यथा समय आठ कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ।

एकबार श्रमण भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर उसके चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया। माता-पिता से वाद-विवाद के बाद अनुमति लेकर प्रव्रज्या धारण की। वह जमाना अच्छा था। साधुओं में विनयभाव विशेष रुप में था। मेघकुमार साधु बन गए तो रात्रि में जब अनुक्रम से बिस्तार लगाए गए तो उनका नम्बर सबसे छोटे होने के कारण द्वार के पास आया। रात्रि में साधुओं का आना-जाना हुआ। किसी साधु के पैर की धूल उनके शरीर पर गिरी, किसी के पैर की ठोकर लगी। इस गड़बड़ के कारण उन्हें रात भर नींद नहीं आई। मेघ मुनि ने सोचा—जब मैं दीक्षित नहीं हुआ था, तब साधु मेरे प्रति बड़ा अच्छा व्यवहार करते थे। साधु बनते ही मुझे ठुकराने लगे। एक ही रात में मेरी ऐसी हालत कर दी। ऐसा दुःख देखने की अपेक्षा तो घर ही चला जाना अच्छा है। प्रातः भगवान् से पूछकर चल दूंगा।

भाइयो! कष्ट आने पर धैर्य रहना कठिन होता है। फिर

मेघकुमार तो नवीन ही दीक्षित हुए थे। अतएव वह घबरा उठे। प्रातःकाल होते ही भगवान् के पास पहुंचे। वे नमस्कार करके अपनी भावना व्यक्त करने ही वाले थे कि अन्तर्यामी भगवान् स्वयं कहने लगे-रात्रि में साधुओं के आने-जाने से तुम्हें नींद नहीं आई। उद्विग्न होकर घर जाने का विचार किया है? क्यों यह बात सच है न?

मेघकुमार ने मस्तक नीचा कर लिया। तब भगवान् ने आगे फर्माया—मेघ! यह दुःख कितना-सा है इससे पहले के तीसरे भव में तू एक सहस्र हाथी-हथनियों के यूथ का अधिपति था। जंगल में दावानल भड़का और तेरी मृत्यु हो गई। अगले भव में पुनः हाथी बना और सात सौ के परिवार का मालिक हुआ। दावानल लगने पर तुझे पूर्व जन्म का स्मरण हो गया और फिर एक योजन का मंडल बनाया।

इसके पश्चात् का पूर्वोक्त वर्णन मेघकुमार को सुनाते हुए भगवान् ने कहा—क्या हाथी के भवों के कष्ट की अपेक्षा यह कष्ट अधिक था?

भगवान् के मुखारविन्द से अपने पूर्वभवों का वृत्तान्त सुन कर मेघ मुनि को जातिस्मरण हो गया और उन्हें वह भव ज्ञात हो गए। तब वे बोले—भंते! मुझे पुनः दीक्षा प्रदान कीजिए, मैं संयम के परिणामों से च्युत हो गया था, आज से इन दो

नेत्रों को छोड़कर मेरा समस्त शरीर सन्तों की सेवा में समर्पित है।

इस प्रकार जैसे भगवान् ने संयम से च्युत होते हुए मेघकुमार को पुनः उपदेश द्वारा स्थिर किया, उसी प्रकार प्रत्येक धर्मनिष्ठ व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह धर्म से भ्रष्ट होते हुए साधु साध्वी-श्रावक श्राविका को स्थिर करे। साधु के लम्बे जीवन में कोई कष्ट आना और परिणामों का चंचल हो जाना असंभव नहीं है, ऐसे प्रसंग पर कोई भागने की कोशिश करता है तो उसे यथोचित सहायता देकर स्थिर करना चाहिए। यह सम्यग्दृष्टि का आवश्यक आचार है।

इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अभयदान का फल कितना उत्तम होता है? अभयदान देने से हाथी को सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति हुई और उत्तम मनुष्य भव प्राप्त हुआ, यही नहीं संयम की प्राप्ति भी हुई और अन्त में शाश्वत कल्याण का साधन भी प्राप्त हो गया। यह ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन का संक्षिप्त दिग्दर्शन है। पूरा वर्णन किया जाय तो इसी एक अध्ययन में एक मास लग सकता है।

दूसरे अध्ययन में 'एक खोड़े में दो पैरों' का वर्णन है। इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

राजगृह नगर में धन्य सार्थवाह नामक एक सेठ रहता था,

धन वैभव से भण्डार भरे थे, मगर घर उसका सूना था। 'अपुत्र-स्य गृहं शून्यम्' अर्थात् जिसके यहां सन्तान नहीं, उसका घर सब कुछ होते हुए भी सूना है धन्य निस्सन्तान था।

सन्तान की कामना पुरुष की अपेक्षा स्त्री को अधिक बलवती होती है अतएव धन्य सार्थवाह की पत्नी को एक दिन बड़ी तीव्र इच्छा हुई कि मैं भी माता बन जाऊँ! जिसे चाह होती है उसे चिन्ता भी होती है कहा है—

चाह नहीं चिन्ता नहीं, मनुआं वेपरवाह।
जिसको कुछ नहिं चाहिए, सो जग शाहशाह॥

जिसे चाह नहीं होती उसे चिन्ता भी नहीं होती है और जिसे चिन्ता नहीं होती वह बादशाहों का भी बादशाह है। इसके विपरीत जहां चाह है वहां चिन्ता अवश्यंभावी है। और जहां चिन्ता है वहां दुःख का अम्बार लगा समझो।

तो सेठानी ने सन्तानवती बनने के लिए देवी-देवताओं के यहां जाकर पुकार की, एक दिन उसकी चाह पूरी हुई और उसने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम देवदत्त रक्खा गया। सेठ सेठानी ने अतीव हर्ष पूर्वक उसका जन्मोत्सव मनाया।

उसी नगर में एक बड़ा नामी चोर रहता था। पराया माल उड़ाने में उसका हाथ बहुत हल्का था और नगर के सब स्थानों और मार्गों को वह जानता था। वह सदैव इसी घात में रहता

था कि कब कहां चोरी करने का अवसर मिले। उसका नाम विजय था।

एक दिन की बात है कि सेठानी ने उस बच्चे को स्नान करवा कर और वस्त्राभूषण पहना कर अपने नौकर को खिलाने को दे दिया। वह उसे बाहर ले गया। बाहर जाकर उसने बच्चे को एक जगह बिठला दिया और दूसरे बालकों के साथ स्वयं खेलने लगा। खेल में वह मगन हो गया।

अकस्मात् विजय चोर उधर ना पहुँचा, उसकी दृष्टि उस बच्चे पर पड़ी। बच्चे के शरीर पर आभूषण देख कर और नौकर को खेल में मस्त देखकर उसने सोचा—इस बच्चे को उड़ा ले जाना चाहिए। उसने इधर उधर देखा और उसे विश्वास हो गया कि किसी की नजर इस ओर नहीं है तो उसने बच्चे को कांख में दबा लिया और कपड़े से लपेट कर ले भागा।

अनुभवी लोग इसीलिए कहते हैं कि बच्चे को खिलाने-पिलाने का लाड़ तो करना चाहिए परन्तु गहने पहनाने का लाड़ नहीं करना चाहिए। गहने पहनाने से बच्चे के प्राण किस प्रकार संकट में पड़ जाते हैं, यह बात इस कथा से स्पष्ट हो जाती है।

मन्दसौर के तपस्वी छब्बालालजी म० ने दीक्षा ले ली थी और अपने छोटे से बच्चे को दूसरे को दे दिया था। जब वह बच्चा ही था कि जिसके यहां वह रहता था, उसके यहां विवाह का

प्रसंग आया। उस प्रसंग पर उसे कंठा पहना दिया गया। विवाह की धूम-धाम में किसी ने उसका ध्यान नहीं रक्खा। वह बालक कंठा पहने हुए कहां गायब हो गया, आज तक पता नहीं चला।

तो बच्चे को जेवर पहनाने से जेवर भी जाता है और बच्चे की जान भी चली जाती है। अतएव बालक को जेवर पहनाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। उन्हें खिलाने-पिलाने का लाड़ भले किया जाय पर जेवर पहनाने का लाड़ कदापि न किया जाय।

हां, तो थोड़े समय बाद जब नौकर का ध्यान उस देवदत्त नामक बालक की ओर गया तो वह वहां दिखाई नहीं दिया, नौकर ने उसे इधर-उधर बहुत तलाश किया मगर मिलता कैसे? जब न मिला तो वह घबराया हुआ सेठानी के पास गया। बोला-बच्चे को न जाने कौन उठा ले गया है।

आखिर सेठ को खबर दी गई और बहुत खोज करने पर भी जब बालक का पता न चला तो पुलिस में रिपोर्ट दर्ज कराई गई। पुलिस के आदमी छूटे और चोर के पैरों के निशान तलाश करते हुए आखिर एक सुनसान सघन प्रदेश में पहुँचे। वहां एक जीर्ण कूप था। मरे हुए बालक की लाश उस कुए में पड़ी मिली।

लाश कुए में से निकाली गई और सेठ को सिपुर्द कर दी गई। परन्तु उसके मिल जाने का क्या अर्थ रह गया था?

सेठ के दुःख और शोक की सीमा न रही। कितनी कामनाओं और मनौतियों के बाद एक पुत्र की प्राप्ति हुई थी और वह आभूषणों की बलि चढ़ गया।

चोर की तलाश की गई तो वह पास में ही किसी झाड़ी में छिपा हुआ मिल गया जेवर तब तक उसी के पास थे। वह पकड़ लिया गया और कारागार में ठूंस दिया गया। उसका एक पैर खोड़े में डाल दिया गया। उसका खाना-पीना बंद कर दिया गया। दिन में तीन बार उस पर कोड़ों आदि की मार पड़ने लगी।

उधर सेठ शोक से मुक्त होकर फिर अपने व्यापार-धंधे में लग गया। एक बार उससे भी कोई साधारण-सा राजकीय अपराध हो गया और वह भी उसी कारागार में डाला गया। जिस खोड़े में विजय चोर का पैर फँसाया गया था, उसी में धन्य सार्थवाह का भी पैर फँसा दिया गया।

दूसरे दिन सेठानी ने सेठ के लिए भोजन तैयार किया और नौकर के साथ भेज दिया। नौकर भोजन लेकर सेठ के पास गया। विजय चोर ने भोजन देख कर सेठ से कहा—सेठजी! इसमें मुझे भी कुछ खाने को दो। यह सुन कर सेठ को बहुत क्रोध आया। उसने कहा—अरे दुष्ट! तुझे मैं भोजन कैसे दे सकता हूं। तू मेरे बालक का हत्यारा है। मैं कौओं और कुत्तों को भले ही खिला दूं पर तुझे हर्गिज नहीं दे सकता।

चोर ने विचार किया सेठ ने मुझे भोजन नहीं दिया है तो इसका बदला जरूर लेना चाहिए।

यथासमय सेठ को जंगल जाने की हाजत हुई तो उसने चोर से कहा—भाई, जरा एकान्त में चलो, मुझे निवटना है। तब चोर ने कहा—सेठजी ! मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा। मैंने भोजन नहीं किया है, इस कारण मुझे हाजत नहीं है। हां यदि तुम अपने भोजन में से मुझे भी हिस्सा दिया करो तो मैं चल सकता हूँ।

सेठ कुछ देर के लिए चुप हो रहा, मगर हाजत बढ़ती गई। जब न रहा गया तो उसे चोर की मांग स्वीकार करनी पड़ी। मनुष्य खाए बिना रह भी सकता है मगर टट्टी गये बिना नहीं रह सकता।

दूसरे दिन जब भोजन आया तो उसमें से उस चोर को भी हिस्सा देना पड़ा। सेठ ने चोर को भोजन खिलाया तो नौकर ने देखा और घर जाकर सेठानी से कह दिया। यह सुन कर सेठानी को बहुत बुरा लगना स्वाभाविक ही था।

कुछ काल के बाद सेठ के सम्बन्धीजनों ने अर्थ देकर सेठ को कारागार से मुक्त करवाया और वह घर आ गया। जब सेठ घर आया और सेठानी के पास गया। सेठानी के पास गया तो सेठानी ने मुँह फेर लिया। सेठ को यह देख कर विस्मय हुआ

और उसने कहा—मेरे आने पर सब लोग प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं, तुमने क्यों मुँह फेर लिया ?

सेठानी ने तड़क कर कहा—मैं आपसे मुँह क्यों न फेरूँ ? आपने मेरे बच्चे के हत्यारे चोर को भोजन करवाया है।

सेठ-तो पहले यही क्यों नहीं पूछ लिया कि उसे भोजन क्यों दिया ? मैंने प्रथम दिन उसके मांगने पर भी भोजन नहीं दिया और बचा हुआ वापिस भेज दिया। मगर बाद में विवश होकर देना पड़ा।

इस प्रकार कह कर सेठ ने पूर्वोक्त सब वृत्तान्त सेठानी को सुनाया और तब कहीं जाकर उसे सन्तोष हुआ।

यह दृष्टान्त देकर भगवान महावीर ने साधकों को संबोधित करते हुए कहा-हे देवानुप्रियो ! तुम्हारा यह शरीर भी विजय चोर के समान है। यह पृथ्वीकाय आदि छह काय के जीवों की हिंसा करता है। साधक धन्य सार्थवाह के समान है। जैसे विजय चोर के सहयोग के बिना धन्य सार्थवाह का काम नहीं चलता था, उसी प्रकार शरीर के सहयोग के बिना साधक का संयम निर्वाह नहीं हो सकता। अतएव जैसे धन्य सार्थवाह ने अनुराग न होने पर भी केवल काम निकालने के लिए विजय चोर को भोजन दिया, उसी प्रकार शरीर पर लेश मात्र भी अनुराग

न रखते हुए सिर्फ साधना रूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए इसे आहार देना चाहिए।

भाइयो ! जैसे माल से भरी गाड़ी को इष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए तेल देना पड़ता है, इसी प्रकार निर्वाण तक पहुंचने के लिए शरीर-शकट को आहार-पानी देना पड़ता है। शकट को तेल न दिया जाय तो वह ठीक तरह चल नहीं सकती, इसी प्रकार शरीर को खुराक न दी जाय तो वह भी काम नहीं दे सकता।

तो अभिप्राय यह है कि इस अध्ययन में यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है कि मोक्षप्राप्ति में सहायक होने के कारण ही शरीर को आहार-पानी देना चाहिए न कि इसे मोटा-ताजा, खूबसूरत या विषयभोग में समर्थ बनाने के लिए।

इस प्रकार ज्ञातासूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध में उन्नीस अध्ययन हैं, जिनमें से समयाभाव के कारण सिर्फ दो का ही संक्षिप्त रूप में आपको दिग्दर्शन कराया जा सका है।

तो यह जो शरीर है, इसे विजय चोर ही समझो इसके लिए कहा गया है-

यह काया कंचन से बेहतर,
यही मिट्टी से बदतर है।
इसे पाय शुभ कर्म जो करते,
वही बड़े ज्ञानी नर है॥

कवि कहता है–यह काया कंचन से भी अधिक कीमती है। सोने का भाव तो अभी एक सौ बीस रुपया तोले का है, परन्तु यह शरीर अनमोल है। कोई एक करोड़ रुपये में आपकी आंख या जीभ खरीदना चाहे तो आप दे देंगे? नहीं आपकी बात तो दूर। कोई भिखारी भी शायद नहीं देना चाहेगा। इतना मूल्यवान् है शरीर का एक एक अवयव।

मगर जब शरीर में से प्राण निकल जाते हैं तब इसका क्या मूल्य रह जाता है? कोई मूल्य नहीं, कोई उपयोग नहीं, इसी कारण कवि कहता है—

यही मिट्टी से भी बदतर है।

पुण्योदय से इस अनमोल शरीर को पाकर जिसने दूसरों की सेवा कर ली, तपस्या कर ली और आत्म-कल्याण कर लिया, वही ज्ञानी और समझदार है और शरीर से पूरा लाभ उठा लिया और पूरी कीमत वसूल करली, इसके विपरीत यदि इसे पाप-कृत्यों में लगा दिया तो इसे मिट्टी में मिला दिया और मूर्ख और नादान कहलाए।

भाइयो! तुम इस शरीर के लिए सब कुछ करते हो और इसे माल-मलीदा खिलाते हो तो इससे कुछ लाभ भी उठाओ।

तपस्वी बालचंदजी म० कहा करते थे-मेरा शरीर विजय चोर की तरह है। यह सोलह रोटियां खा सकता है परन्तु मैं इसे

छह रोटियां ही खिलाता हूँ। मालूम होना चाहिए कि उन्होंने पानी, रोटी, दाल, कढ़ी; त्रिफला चूर्ण और रंधैन, इन छह द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य समस्त वस्तुओं का त्याग कर दिया था।

आगे कहा है—

यह काया कूतरी, करे भजन में भंग।
ठंडा टुकड़ा डालकर, करिये भजन निशंग॥

अर्थात्–इस काया रुपी कुत्ती को यदि भोजन नहीं दिया जाता तो यह भजन में बाधा पहुंचाती है और यदि खाने को मिल जाता है तो शान्त रहती है। अतएव इसे ठंडा-बासी टुकड़ा खिला देना चाहिए जिससे भजन में बाधा पड़ने की आशंका न रहे।

भाइयो ! कहने का अभिप्राय यही है कि यह शरीर प्राप्त हुआ है तो इसकी शक्ति को देखकर तपस्या करके इससे लाभ उठाना चाहिए। जो इससे आत्मिक लाभ उठाते हैं वे इस लोक तथा परलोक में सुखी बन जाते हैं।

अमरसेन-वीरसेन चरित—

यही बात चरित के द्वारा बतलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। कल कहा गया था कि अमरसेन किस प्रकार समुद्र के बीच में फँस गया ? मगर पुण्ययोग से उधर से एक विद्याधर निकला। तब अपनी कथा सुनाते हुए उसने विद्याधर

से अपने उद्धार की प्रार्थना की। उसने कहा-मैं यहां एकाकी हूं, असहाय हूं, साधनहीन हूं, कृपा करके आप मुझे सिंहलपुर पहुँचा दीजिए और मेरे नये जन्मदाता बनिए।

अमरसेन का वृत्तान्त सुनकर विद्याधर ने कहा-भाई, मैं समझ गया कि तुम दुःख में पड़े हो और इस दुःख से निकालना मेरा कर्त्तव्य है। किन्तु इस समय में बहुत जल्दी में हूँ, अतः कुछ कर नहीं सकता। मैं महाविदेह क्षेत्र में स्थित सीमंधर स्वामी के दर्शन करने जा रहा हूँ और वहां पहुंचने के लिए समय कम रह गया है। अतः धैर्य के साथ कुछ समय तक यहीं रहो। लौटते समय जहां चाहोगे वहीं पहुँचा दूंगा। मैं दस-पन्द्रह दिन में लौट आऊँगा।

अमरसेन ने पूछा-आप भगवान् के दर्शन करने को जा रहे हैं परन्तु इतने दिनों का वहां क्या काम है?

विद्याधर ने कहा-भगवान् सीमन्धर स्वामी जहां विराजमान हैं; वहां का राजा यशोधर अपने एक हजार पुत्रों के साथ दीक्षित होने वाला है। उसकी ओर से मुझे भी आमन्त्रण मिला है। अतएव मैं उस दीक्षा-महोत्सव में सम्मिलित होने जा रहा हूं। अगर आपकी इच्छा हो तो आप भी चल सकते हैं। चलने में लाभ ही है। भगवान् के दर्शन हो जाएँगे और उनकी वाणी श्रवण करने का भी अवसर मिलेगा।

विद्याधर ने करुणा करके अमरसेन के सामने साथ चलने का प्रस्ताव रख दिया है। अमरसेन साथ जाता है या नहीं, यह सब आगे सुनने से विदित होगा।

भाइयो ! जो संकट में पड़ा हो, उसका उद्धार करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, जो दूसरों के कष्ट का निवारण करता है, उसका परमकल्याण होता है।

केन्टोनमेंट बैंगलोर
३-१०-५६

साधना-स्वरूप

धर्म प्रेमी भाइयो !

श्रीमत्समवायांग सूत्र के उन्नीसवें समवाय में फर्माया है कि 'नायाधम्म कहा' अर्थात् ज्ञाताजी सूत्र के उन्नीस अध्ययन हैं। उनमें से दो अध्ययनों की शिक्षाप्रद व्याख्या की जा चुकी है। तीसरे अण्ड नामक अध्ययन का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

राजगृह नगर में दो सार्थवाहपुत्र थे। उनका एक वेश्या के साथ बड़ा प्रेम था। एक दिन दोनों उस वेश्या के साथ बगीचे में घूमने गए। वहां खाया-पीया, विलास किया। तत्पश्चात् वे वहीं भ्रमण करने निकले। बगीचे में एक मयूरी बैठी हुई थी। सार्थवाहपुत्रों को अपनी ओर आते देख वह भयग्रस्त हुई, त्रस्त हुई और आर्त्तनाद करने लगी। सार्थवाहपुत्रों ने मयूरी की भय-जनित चेष्टाओं को देखकर सोचा—'इसके भय का कोई विशेष कारण होना चाहिए'।

इस प्रकार विचार कर वे उसी वृक्ष की ओर अग्रसर हुए जिस पर मयूरी बैठो थी। वहां पहुँचकर देखते हैं कि वृक्ष के

नीचे, झुरमुट के निकट दो अण्डे हैं। वे अण्डे उन्हें सुन्दर लगे, अतएव दोनों ने एक एक अण्डा उठा लिया। उन्होंने कहा— हम इन अण्डों को घर ले चलें। इनमें से जो मोर पैदा होंगे उन्हें पालेंगे।

दोनों सार्थवाहपुत्र उन अण्डों को अपने-अपने घर ले गए। उनमें से एक ने उस अण्डे को, पहले के बहुत-से अण्डों के साथ रख दिया। इस प्रकार अन्य अण्डों के साथ उस अण्डे का भी पालन-पोषण होता रहा।

दूसरा सार्थवाहपुत्र शंकाशील था। उसने उस अण्डे को दूसरे अण्डों के साथ रख दिया, परन्तु शंकालु होने के कारण उसे प्रतिदिन उलटता, पलटता, हिलाता, डुलाता और घुमाता था। उसे विश्वास नहीं होता था कि अण्डे में से बच्चा उत्पन्न होगा। इस प्रकार बारबार हिलाने-डुलाने से वह अण्डा निर्जीव-पोचा हो गया। अण्डा सूख कर थोड़े ही दिनों में फूट गया और बच्चा नहीं पैदा हुआ।

दूसरे सार्थवाहपुत्र के चित्त में पूर्ण श्रद्धा थी कि इसमें से बच्चा अवश्य जन्मेगा। उसने न उसे उलटा-पलटा और न हिलाया-डुलाया और न हाथ लगाया। परिणाम यह हुआ कि काल परिपक्व होने पर उसमें से बच्चा निकला और बड़ा हुआ वह बच्चा यथासमय नृत्यकला सिखलाने वाले को सौंप दिया

गया। उसने उसे सुन्दर नृत्य करने की शिक्षा दी। जब वह मयूरशावक अपने सुन्दर पंख पसार कर नृत्य करता तो दर्शक आनन्दविभोर हो जाते मुक्त कंठ से 'वाह वाह' कर उठते।

पहला सार्थवाहपुत्र यह देखकर अत्यन्त दुखित होता और सोचता–मैं इस सौभाग्य से वंचित रह गया।

मगर प्रश्न यह है कि प्रथम सार्थवाहपुत्र क्यों मयूर-शावक से वंचित रहा ? और दूसरे को सुन्दर बच्चा क्यों प्राप्त हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। प्रथम को बच्चे के होने का विश्वास नहीं था, उसका चित्त सन्देहग्रस्त था। जब कि दूसरे चित में बच्चा होने का पूर्ण विश्वास था ! वह जानता था क्रिया जब निर्दोष है तो उसका फल अवश्यंभावी है।

इसी प्रकार जो साधक सर्वज्ञ के वचनों पर अचल श्रद्धा रखकर तदनुसार क्रिया करेगा, उसे अवश्य ही सुफल प्राप्ति होगी। इसके विपरीत, जिसका चित्त अश्रद्धा और शंका के विष से व्याप्त है, उसे क्रिया का अमृत-फल प्राप्त नहीं हो सकता।

साधको ! सर्वज्ञ की वाणी में सत्य की पावनता होती है। वही वाणी हम सब के लिए श्रेयस्कर है। अतएव उस पर अविचल श्रद्धा रक्खो। चित्त में शंका का कालकूट न उत्पन्न होने दो। यही इस अध्ययन का सार है।

समवायांग सूत्र का चौथा कूर्म' नामक अध्ययन है। दो

कूर्मों के उदाहरण द्वारा उसमें संयम का आदर्श उपस्थित किया गया है। मूल कथानक का सार इस प्रकार है—

किसी सजल सरोवर में दो कछुवे रहते थे। एक दिन सूर्यास्त के पश्चात् वे सरोवर से बाहर निकले और भोजन की तलाश में आगे बढ़े। इसी बीच दो पापी शृगाल अपने खाने की टोह में उधर जा पहुंचे। वे जानवरों की घात करने वाले और स्वभाव से क्रूर थे।

दोनों ने देखा कि हमारी ओर ही दो कछुवे आ रहे हैं और उनके मुँह से लार टपकने लगी। कछुवों ने भी देखा कि यह दोनों शृगाल हमारे काल हैं और अवसर पाते ही हमें अपना भक्ष्य बना लेंगे। यह सोचकर और प्राणत्राण की प्रकृति-प्रदत्त प्रेरणा से प्रेरित होकर दोनों ने अपने पांचों अङ्ग चारों पैर ग्रीव अपनी ढाल में संकुचित कर लिए।

दोनों शृगाल कूर्मों के निकट आए। उन्होंने अपनी पूरी शक्ति से अपने पजों का उन पर प्रहार किया, परन्तु उनकी ढालें इतनी मजबूत थीं और उन्होंने अपने पांचों अङ्गों को इतनी अच्छी तरह गोपन कर रक्खा था कि शृगाल उनका कुछ भी न बिगाड़ सके। शृगालों के प्रहार व्यर्थ हुए और कूर्म सुरक्षित बच गए।

मगर शृगाल बड़ा धूर्त्त जानवर होता है। वे दोनों चकमा

देने के लिए वहां से हट गए और पास की झाड़ी में छिपकर प्रतिज्ञा करने लगे कि ज्यों ही कूर्म अपने अङ्ग बाहर निकाले और हम हमला कर दें ! उनमें एक कूर्म चपल था। वह अपने को संयम में न रख सका। शृगालों को अलग हटा जानकर उसने अपना एक पैर बाहर निकाला कि उसी समय शृगाल झाड़ी में से झपटा और उसका पैर खा गया। चपल कूर्म ने इस प्रकार चार बार चारों पैर निकाले और शृगाल ने एक-एक करके चारों पैर खा लिये। पांचवीं बार में गर्दन पर वार किया और उसे भी खा गया। इस प्रकार अपने अंगों को गोपन न करने के कारण उसे प्राणों से हाथ धोने पड़े।

दूसरा कूर्म अपने साथी की दुर्दशा देखता रहा। वह संयमशील था। उसने अपने अंगों को ढाल में ही रहने दिया। दूसरे शृगाल ने उसे भी मारने का प्रयत्न किया मगर वह सफल न हो सका। अपने अंगों के संगोपन के कारण उसका बाल भी बांका न हुआ। जब दोनों शृगाल चले गए और बहुत दूर पहुंच गए तब उसने पांचों अंग निकाले और शीघ्रता से दौड़ता हुआ वह सरोवर में चला गया।

इस दृष्टान्त का उपसंहार करते हुए भगवान् महावीर फर्माते हैं कि संसार में कोई-कोई साधक ऐसा भी होता है जो अपनी पांचों इन्द्रियों का गोपन नहीं करता। ऐसा साधक संयम-

जीवन से हाथ धो बैठता है और दुर्गति का अधिकारी होता है। इसके विपरित जो साधक अपनी पांचों इन्द्रियों को गोपन करके रखता है, वह सकुशल रहता है और उसे सयम जीवन से वंचित नहीं होना पड़ता। वह मोक्ष रूपी सरोवर में पहुँच कर अनन्त काल पर्यन्त आनन्द का उपभोग करता है अतएव अपनी पांचों इन्द्रियों को वश में रक्खो-खुली मत रहने दो। विषयों की ओर प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियां आत्मा के लिए अहितकर होती हैं।

पांचवें अध्ययन में राजर्षि शैलक का वर्णन किया गया है। शैलकपुर के राजा का नाम भी शैलक था। श्रीकृष्ण के जमाने में थावच्चापुर नामक श्रेष्ठिकुमार थे। बत्तीस कन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। मगर भगवान् अरिष्टनेमि का धर्मोपदेश सुनकर वे वैरागी हो गए। माता की अनुमति लेकर उन्होंने एक हजार पुरुषों के साथ मुनिदीक्षा अंगीकार की। कृष्ण वासुदेव ने दीक्षा महोत्सव करवाया।

एक बार विचरण करते हुए थावच्चापुत्र अनगार शैलकपुर पहुंचे। उनके प्रभावशाली प्रवचन से प्रभावित होकर शैलक नरेश ने भी पांच सौ पुरुषों के साथ संयम धारण किया। पंथकजी उनके सबसे बड़े शिष्य थे।

उक्ति प्रसिद्ध है-शरीरं व्याधिमन्दिरम्।' यह शरीर रोगों

का घर है। जरा भी नियमविरुद्ध आचरण किया नहीं कि इसमें रोग पनप उठते हैं और उस समय बहुत बुरा हाल हो जाता है। जिसे रोगजनित पीड़ा होती है, उसी को वेदना का अनुभव होता है। दूसरे समझते हैं-अजी, क्या है, जरा-सी बीमारी तो है। मगर जरा-सी बीमारी भी कितनी पीड़ा उत्पन्न करती है, यह तो अनुभव करने वाला ही जानता है। किसी ने कहा है—

जिस बेदर्दी ने कभी चोट नहीं खाई।
वह क्या जाने कैसी हो पीर पराई॥

जिसे चोट नहीं लगी उसे चोट का अनुभव कैसे हो सकता है! चोट खाने वाला ही पीड़ा का अनुभव करता है।

शैलक राजर्षि के शरीर में भयकर बीमारी उत्पन्न हो गई। वे शैलकपुर पहुंचे। उनके पुत्र ने, जो राजा हो गया था, उन्हें उपचार के लिए आमंत्रित किया। मुनि ने राजा की प्रार्थना स्वीकार करके चातुर्मास अंगीकार किया। राजा ने भक्ति और प्रीति के साथ मुनिराज की सेवा की। वैद्यराज की औषधियों का सेवन करने से धीरे-धीरे उनका शरीर नीरोग हो गया। मगर कर्मोदय के कारण शैलक ऋषि सुखशील और गृद्ध हो गए। चातुर्मास समाप्त हो जाने पर भी उन्होंने विहार नहीं किया। तब पंथकजी अकेले उनकी सेवा में रह गए और शेष साधुओं ने विहार कर दिया।

शैलक ऋषि खान-पान में अत्यन्त लोलुप बन गए। संयमजीवन की मर्यादाओं को भूलकर वह मौज में पड़े रहते, यहां तक कि प्रतिक्रमण आदि आवश्यक भी नहीं करते थे। एक बार पंथकजी ने चौमासी प्रतिक्रमण करके गुरुजी को नमस्कार किया और चरणों में मस्तक लगाया। गुरुजी उस समय तक शयन कर रहे थे। भाइयो! यद्यपि गुरुजी ने संयमक्रियाओं का परित्याग कर दिया था, मगर शिष्य उन्हें गुरु ही मानता रहा और हृदय से उनकी सेवा करता रहा। दशवैकालिकसूत्र में कहा है—

जहाहियग्गी जलणं नमंसे,
नाणाहुई मंतपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो॥

—दश० अ० ६-१-गा० ११

इस गाथा में विनयवान् शिष्य का कर्त्तव्य निरुपित किया गया है। शिष्य को गुरू की कहां तक सेवा करनी चाहिए? जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की पूजा करता है, उसे नमस्कार करता है, उसी प्रकार विनीत शिष्य अपने गुरू की सेवा करे, उन्हें प्रणाम करे, भले ही शिष्य कितना भी ज्ञानवान् क्यों न

हो जाय! अनन्त ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी शिष्य को गुरू की सेवा का परित्याग नहीं करना चाहिए।

भाइयो! शास्त्र का यह आदेश है, मगर आज जमाना कुछ और ही हो गया है। जिसे अपनी आत्मा के उत्थान की चिन्ता है, जिसके अन्तःकरण में विनम्रता है, अहंकार का विष नहीं घुला है, वह चाहे कितना ही ज्ञानवान् और प्रतिष्ठित क्यों न हो जाय, गुरू की सेवा का परित्याग नहीं कर सकता। आज तो छोटे-छोटे और साधारण कोटि के साधुओं में भी ऐसा उन्माद जागृत हो जाता है कि थोड़ी-सी बात होते ही कहने लगते हैं-हम वन्दना नहीं करेंगे! मगर पंथकजी को देखिए, वे जानते हैं कि शैलक ऋषि खान-पान में असंयत हो चुके हैं, आवश्यक क्रिया तक नहीं करते, फिर भी उनकी सेवा में तन्मयता के साथ निरत हैं-उनके प्रति पूर्ववत् विनीतभाव से आदर व्यक्त करते हैं।

भाइयो! आज श्रमणसंघ का निर्माण हो चुकने पर भी क्या स्थिति है, यह आपसे छिपा नहीं है। सिद्धान्त नहीं कहता कि थोड़ी-सी गलती हो जाने पर ही गुरू को छोड़ कर अलग हो जाना चाहिए और गिरते को और अधिक धक्का देकर गिरा देना चाहिए। स्थिरीकरण सम्यक्त्व का एक अङ्ग है। सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र से जो च्युत हो रहा है, उसे यथोचित उपाय करके स्थिर करने का प्रयत्न करना ही धर्म और संघ की महान्

सेवा है। इस प्रकार की सेवा से आत्मा का कल्याण ही होता है, अकल्याण कदापि नहीं हो सकता।

हां, तो पंथकजी धर्ममार्ग को समीचीन रूप से जानते थे। जब निद्राग्रस्त गुरूजी के चरणों का उन्होंने स्पर्श किया तो गुरूजी की निद्रा भंग हो गई। क्रुद्ध होकर वे कहने लगे–कौन है यह मूर्ख जो मेरी निद्रा में व्याघात करता है ! तब विनम्रभाव से पंथकजी बोले–गुरुदेव ! आज चौमासी पक्खी थी और मैंने प्रतिक्रमण किया है। मैं खमाने के लिए सेवा में उपस्थित हुआ हूं। आपको कष्ट हुआ, इसके लिए भी क्षमायाचना करता हूँ।

पंथकजी की विनम्र वाणी सुनी तो शैलक ऋषि की द्रव्य-निद्रा के साथ भावनिद्रा भी भंग हो गई ! वे जागृत हो गए। उन्हें अपने कर्त्तव्य का भान हो गया। उन्होंने विहार करने का निश्चय कर लिया।

भाइयो ! पंथकजी की धीरता और सहनशीलता कितनी प्रशंसनीय है। उनके कारण राजर्षि शैलक भी सही राह पर आ गए और गुरु-चेला विहार करके अपने गच्छ के अन्य साधुओं की ओर चले गए।

इस अध्ययन से यही शिक्षा मिलती है कि शिष्य को गम खाकर भी गुरू को सन्मार्ग पर लाना चाहिए। गच्छ में रहने का

सबसे बड़ा लाभ यही है कि साधु परस्पर एक दूसरे की संयम में सहायता करें।

ज्ञातासूत्र का छठा अध्ययन तूम्बे का है। तूम्बे पर रस्सी और मिट्टी के आठ लेप लगा दिये जाएं और उसे पानी में छोड़ दिया जाय तो वह भारी हो जाने के कारण नीचे चला जाता है। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के लेप के कारण आत्मा की अधोगति होती है।

आत्मा स्वभावत: भारी नहीं है मगर अनादिकालीन कर्मबंध के कारण उसमें गुरुता आ जाती है। गुरुता के कारण ही उसका अध:पतन होता है। अनादिकाल से यह आत्मा कर्म-बंध के कारण मलीन हो रहा है और नरक आदि अधोगतियों का अथिति बनता है।

जैसे तूम्बे के लेप धीरे धीरे गलते जाते हैं, तूम्बा हल्का होता जाता है और अन्तत: निर्लेप होने पर पानी की ऊपरी सतह पर आ जाता है, इसी प्रकार संवर के द्वारा नूतन कर्मों का निरोध होने पर तथा निर्जरा के द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय होने पर आत्मा कर्म-लेप से रहित हो जाता है तो उसमें हल्कापन आता है और अकर्मा होकर ऊर्ध्वगमन करता है। उस स्थिति में वह

अनन्त ज्ञान और आनन्द स्वभाव में सदा काल रमण करता रहता है कहा है—

तुम्बड़ी को स्वभाव तो सदा ही तिरावे ही को,
कबहुँ डूबत नाही जल में दबाये है।
दिये अष्ट रस्सी बंध वसु लेप मिट्टी हू के,
पानी मांहि पटकत पाताल पठावै है।
ऐसे जीव तुम्बी सम डूबन को नाहीं धर्म,
वसु कर्म ही के वश कुगति सिधावै है।
बन्धन कटत तुम्बी आवत ऊपर चली,
जैसे कटै करम मुगत गढ़ जावै है॥

इस प्रकार आत्मा के उत्थान के लिए यह अनिवार्य है कि कर्मजनित गुरुता को हटाया जाय और आत्मा को हल्का बनाया जाय। इसके लिए अध्यात्मशास्त्र में दो उपाय बतलाए गए हैं–संवर और निर्जरा। जो साधक संवर और निर्जरा का परिपूर्ण आराधना करते हैं, वे निष्कर्म होकर विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं और परमात्मपद पर प्रतिष्ठित होते हैं।

सातवें अध्ययन में रोहिणी का उदाहरण दिया गया है। एक सेठ के चार पुत्र थे। युवावस्था होने पर उनका विवाह कर दिया गया। चारों पुत्रवधुएँ अच्छे घरानों से आईं। एक दिन सेठ ने विचार किया–मैं अब वृद्ध हो गया हूं और मेरी मृत्यु के

पश्चात् घर का भार इन बहुओं पर ही आने वाला है। ये चारों बहुएँ घर का संचालन अच्छी तरह कर सकेंगी या नहीं, इसकी परीक्षा लेनी, चाहिए और जो जिस कार्य के योग्य हो, उसे वही कार्य अभी से सौंप देना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर सेठ ने एक दिन उत्तम भोजन तैयार करवाया और अपने कुटुम्बियों तथा सम्बन्धियों को आमंत्रित किया भोजन हो चुकने पर उसने सबको यथास्थान बिठलाया और अपनी चारों बहुओं को अपने पास बुलवाया। बहुओं के नाम थे-(१) उज्झिका (२) भोगवती (३) रक्षिका और (४) रोहिणी, बहुओं के आने पर सेठ ने सभी उपस्थित कुटुम्बियों और सम्बन्धियों के समक्ष उन्हें पांच-पांच शालि के दाने दिए। कहा-इन्हें सँभाल कर रखना और मांगने पर वापिस लौटा देना। बहुओं ने बड़ी विनम्रता के साथ वह दाने ले लिये। आगत सम्बन्धी जन अपने-अपने घर चले गए।

सबसे बड़ी बहू उज्झिका वह पांच दाने लेकर अपने कमरे में गई और सोचने लगी-श्वसुरजी ने भी क्या पुरस्कार दिया है और वह भी समारोह करके सब के सामने। फिर यह भी कह दिया कि मांगने पर वापिस लौटा देना! क्या घर में शालि के पांच दाने फिर नहीं मिलेंगे कि इन्हें सम्भाल कर रक्खूँ! यह सोचकर उसने वह दाने फैंक दिये। सोचा-जब मांगेंगे तो कहीं से लेकर लौटा दूंगी।

दूसरी बहू भोगवती अपने कमरे में गई। उसने विचार किया-यद्यपि घर में शालि के दानों की कमी नहीं है, तथापि श्वसुरजी ने यह दिये हैं तो इनका आदर करना चाहिए। यह विचार कर और श्वसुर द्वारा प्रदत्त पुरस्कार समझ कर वह श्रद्धापूर्वक उन्हें खा गई। उसने भी यही विचार किया कि मांगने पर दूसरे पांच दाने दे देने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

तीसरी बहू रक्षिका ने विचार किया-श्वसुरजी ने यह पांच दाने दिये हैं तो इसमें कोई रहस्य होना चाहिए। इस प्रकार गंभीरतापूर्वक विचार करके उसने उन दानों को रुई में लपेट कर एक डिबिया में रख लिया और यथासमय वापिस लौटा देने के विचार से उनकी सार-सँभाल करने लगी।

चौथी बहू रोहिणी थी। वह उम्र में सबसे छोटी थी, पर विचार शक्ति उसकी जबर्दस्त थी। उसने सोचा-श्वसुरजी ने इतना खर्च करके सब को मिष्टान्न जिमाया और सबके सामने हम चारों को पांच २ दाने दिये। आखिर श्वसुरजी वयोवृद्ध, अनुभवी, विवेकशील और दीर्घदर्शी हैं। उनके इस कार्य में कोई गम्भीर रहस्य अवश्य होना चाहिए। सँभव है, इन दानों के माध्यम से वे हमारी परीक्षा कर रहे हों, अन्यथा पुरस्कार में तो कीमती आभूषण भी दे सकते थे।

इस प्रकार विचार करने पर उसे एक सूझ आई। उसने

अपने पितृगृह के आदमियों को बुलवाकर आदेश दिया देखो, यह पांच दाने साधारण नहीं हैं। यह मुझे श्वसुर के हाथ से मिले हैं। अनुकूल समय आने पर इन्हें जमीन जोत कर बो देना। जब तक मैं न मंगवाऊँ तब तक इनकी उपज को बोते जाना और सुरक्षित रखना।

पांच दाने बोये गए तो पहली फसल में सैकड़ों दाने हो गए। वह अलग रख दिये गए। दूसरी फसल में उन सब दानों को बोने से और अधिक हो गए। इस प्रकार पांच वर्ष में दाने इतने अधिक हो गए कि उन्हें कई कोठों में भरना पड़ा।

पांच वर्ष पश्चात् सेठ ने उन दानों को वापिस मांगने का विचार किया। फिर कुटुम्बी और सम्बन्धी जनों को आमन्त्रित किया और सबका यथोचित भोजन-पान से सत्कार किया। भोजन के अनन्तर जब सब लोग एकत्र बैठे तो सेठ ने अपनी पुत्रवधुओं को बुला कर कहा–बहुओ! तुम्हें स्मरण होगा कि आज से ठीक पांच वर्ष पूर्व इन्हीं सब सज्जनों के समक्ष मैंने तुम्हें शालि के पांच-पांच दाने दिये थे, वह दाने आज मैं वापिस चाहता हूं। लाकर मुझे सौंपो।

यह सुनकर चारों बहुएँ अन्दर गईं। बड़ी बहू उज्झिका दूसरे पांच दाने लेकर पहुंची और कहने लगी–'लीजिए पिताजी! यह दाने तैयार हैं।'

सेठ ने कहा-बहू, क्या यह वही दाने हैं ?

उज्झिका-नहीं, वह दाने तो मैंने उसी समय फैंक दिये थे। सोचा था-जब आप मांगेंगे तब दूसरे दाने लाकर दे दूंगी।

दूसरी ने भी पांच दाने लाकर दिये। सेठ के पूछने पर उसने कह दिया-पिताजी, आपका दिया प्रसाद समझ कर उन दानों को मैंने खा लिया है। यह दूसरे हैं।

तीसरी रक्षिका बहू ने अपनी डिबिया में से वही दाने निकाल कर वापिस लौटा दिए।

अन्त में चौथी बहू रोहिणी का नम्बर आया। सेठ ने उससे भी वही दाने मांगे। तब रोहिणी ने कहा-पिताजी ! न मैंने वे दाने फैंके हैं, न खाए हैं, न सुरक्षित रक्खे हैं। विगत पांच वर्षों में वे इतने बढ़ गये हैं कि उन्हें लाने के लिए कई गाड़ियां चाहिए।

सेठ ने कहा-बहूरानी ! तुम्हारा उत्तर मेरी समझ में नहीं आया। पांच दाने इतने भारी या बहुत किस प्रकार हो गए हैं ?

रोहिणी ने जो विचार किया था और उन दानों को बढ़ाने लिए जो योजना की थी, वह सब स्पष्टतापूर्वक सब के समक्ष कह सुनाई।

सेठ की प्रसन्नता का पार न रहा। उसे यह सोचकर अतीव आश्वासन मिला कि मेरी गृहस्थी की उन्नति करने वाली आखिर एक बहू तो मेरे यहां मौजूद है।

तत्पश्चात् सेठ ने उपस्थित जनों की ओर अभिमुख होकर कहा—सज्जनों! पांच वर्ष पूर्व और उसी प्रकार आज आप लोगों को जो कष्ट दिया है, उसका उद्देश्य अपनी पुत्रवधुओं की योग्यता एवं कर्त्तृत्वशक्ति की परीक्षा करना और उसका फल आप सब के समक्ष प्रस्तुत करना था। मैं वृद्धावस्था में आ पहुंचा हूं और चाहता हूँ कि अपनी गृहस्थी का कार्य इनकी योग्यता के अनुसार इन्हें सौंप दूं। आज मैं वही व्यवस्था करने जा रहा हूँ। आप सब साक्षी हैं कि मैंने कार्य विभाजन में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया है। उज्झिका को मैं घर की सफाई का कार्य सौंपता हूं। फैंकना इसका स्वभाव है, अतएव यही कार्य इसकी प्रकृति के अनुकूल रहेगा।

दूसरी बहू भोगवती को मैं रसोई घर का काम सौंपता हूं, क्यों कि इसे खाने का शौक मालूम होता है। यह घर के सभी लोगों को सुन्दर भोजन करा सकेगी।

तीसरी बहू रक्षिका में सँभाल कर रखने की योग्यता है, अतएव इसे मैं तिजोरी की चाबियां सौंपता हूँ। यह मेरे घर के धन, जेवर और दूसरे कीमती सामान को सुरक्षित रख सकेगी और खराब नहीं होने देगी।

चौथी रोहिणी की ओर अभिमुख होकर सेठजी ने कहा– सज्जनों! यह बहू मेरे घर की शोभा है। यह परिवार की प्रतिष्ठा और धन-दौलत आदि को बढ़ाने वाली है। इसे मैं सब की मुखिया बनाता हूँ। इसकी सलाह लिये बिना घर का कोई काम नहीं होगा। यद्यपि यह उम्र में सब से छोटी है तथापि बुद्धि और विवेक में सब से बड़ी है। मेरी मौजूदगी में और मेरी मृत्यु के बाद भी इसी प्रकार की व्यवस्था चालू रहेगी तो परिवार की वृद्धि होगी, सब कार्य सुव्यवस्थित ढङ्ग से चलेगा और सबकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। मेरा परिवार सुखी रहे, समृद्ध रहे और सुव्यवस्थित रहे, इसी उद्देश्य से आज आप सब के समक्ष मैंने यह कार्यविभाजन किया है।

इस प्रकार कह कर सेठ ने सब आमंत्रित जनों को आदरपूर्वक विदा किया।

इस उदाहरण का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि सेठ के समान गुरू महाराज हैं। वे अपने शिष्यों को शालि के पांच दानों की तरह पांच महाव्रत प्रदान करते हैं। उनमें से कई शिष्य उनकी उपयोगिता और महत्ता न समझने के कारण अथवा [illegible]र्यहीन एवं विचार हीन होने के कारण उन्हें फैंक-त्याग देते हैं, संसार में उनकी वही इज्जत होती है जैसी उज्झिका की हुई, कई शिष्य भोगवती के समान पांच महाव्रतों का आचरण करते हैं,

मगर अच्छा खाने-पीने में लोलुप होते हैं, वे अपनी साधुता का खयाल नहीं करते। कई साधु निष्ठापूर्वक महाव्रतों का पालन तो करते हैं, मगर संयमगुणों को बढ़ाते नहीं हैं। वे मूल व्रतों को ही सुरक्षित रखते हुए अपना संयम-जीवन पूर्ण करते हैं। परन्तु कई साधु रोहिणी के समान भी होते हैं जो महाव्रतों का पालन एवं रक्षण करते हुए अपने संयम गुणों को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं और साथ ही साधु-साध्वियों की भी संख्या में वृद्धि करते हैं।

भाइयो! पूज्य हुक्मीचन्द्रजी म० के सम्प्रदाय में पूज्य श्रीलालजी म० उन्हीं साधुओं में से थे, जिन्होंने शुद्ध रूप से साधुता का पालन करते हुए अपने जीवन-काल में सौ साधु-साध्वियों को दीक्षा प्रदान की थी। स्वर्गीय जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म० ने भी बहुसंख्यक साधु-साध्वियों को दीक्षा दी थी।

तो ज्ञानी पुरुष कहते हैं—देखो, उक्त चार श्रेणियों में से आपको किस श्रेणी में रहना है इसका अवश्यमेव विचार कर लो। आप पांच महाव्रतों को अंगीकार कर सको तो बड़ी प्रसन्नता की बात है। किन्तु यह अवश्य सोच लो कि कोई त्याग, प्रत्याख्यान या नियम लेकर उसे फैंक देना है, खान पान में गृद्ध रहना है, उसे ज्यों का त्यों सुरक्षित रखना है अथवा उसकी वृद्धि करना है। जो अपने तप एवं संयम की वृद्धि करेंगे, वे रोहिणी के

समान सबके समक्ष प्रशंसा और प्रतिष्ठा के पात्र बनेंगे। यह सातवें अध्ययन का सार है।

आठवें अध्ययन में मल्ली कुमारी का कथानक है। मिथिला नगरी में कुम्भ नामक राजा राज्य करते थे। प्रभावती रानी थी। एक बार प्रभावती रानी ने चौदह शुभ स्वप्न देखे। उसी रात्रि में उनकी कुक्षि में जयन्त विमान से च्यव कर उन्नीसवें तीर्थङ्कर मल्लीनाथ का अवतरण हुआ। मल्ली को तीन ज्ञान प्राप्त थे। यथा-समय जन्म होने पर महोत्सव मनाने के लिए देवलोक से चौसठ इन्द्र आए, छप्पन दिशाकुमारियां का भी आगमन हुआ। बड़ी उमंग और उल्लास के साथ जन्म-महोत्सव मनाया गया। राज-कुमारी मल्ली के सौन्दर्य और सद्गुणों का सौरभ दूर-दूर तक फैलने लगा। जब मल्ली विवाह के योग्य हुई तो छह प्रमुख राजाओं ने उनसे विवाह करने के पैगाम भिजवाए।

एक कन्या के लिए छह राजाओं के पैगाम पाकर राजा कुम्भ बड़ी चिन्ता में पड़ गए। उन्हें चिन्तातुर देख कर कुमारी मल्ली ने पूछा—पिताजी ! आज आप इतने चिन्ता कुल क्यों दृष्टि-गोचर हो रहे हैं ?

राजा कुम्भ बोले—कुमारी ! तेरा पाणिग्रहण करने के इरादे से एक साथ छह राजा आ रहे हैं। मैं इस चिन्ता में हूं कि उनमें से किसके साथ तेरा विवाह किया जाय ? विवाह तो किसी एक

के साथ ही हो सकता है। ऐसी स्थिति में अवशेष पांच राजा असन्तुष्ट होकर युद्ध की घोषणा कर देंगे। युद्ध का परिणाम कुछ भी हो, मगर सहस्रों निरपराध सैनिक असमय में ही मौत के घाट उतार दिये जाएँगे। यही सोचकर मेरा चित्त चिन्ताग्रस्त हो रहा है।

यह सुनकर मल्ली कुमारी ने कहा–पिताजी, आप लेश मात्र भी चिन्ता न कीजिए। इस समस्या का सामाधान मेरे ऊपर छोड़ दीजिए। मैं यथासमय सब कुछ ठीक कर लूँगी।

उसी दिन मल्ली कुमारी ने कुशल कारीगरों को बुलवा कर हूबहू अपनी ही जैसी आकृति की सोने की एक पुतली बनवाई। साथ ही एक सुन्दर और भव्य भवन का निर्माण करवाया। भवन निर्मित हो चुका तो उसके ठीक मध्य में, एक चबूतरे पर उस पुतली को स्थापित करवा दिया। पुतली पोली थी और उसके मस्तक पर एक छिद्र था जो सुन्दर ढक्कन से ढ़ंका हुआ था। कुमारी प्रतिदिन जो भोजन करती, उसमें से एक कवल उसमें डाल देती थी। इस प्रकार मल्ली कुमारी ने विवाह के लिए आने वाले राजाओं की बुद्धि ठिकाने लगाने की समस्त व्यवस्था परिपूर्ण कर ली।

तदनन्तर छहों राजाओं के द्वारा भेजे हुए छह दूत महाराज कुम्भ की राजसभा में उपस्थित हुए और सभी ने अपने २

स्वामी के लिए मल्ली कुमारी की याचना की। महाराज कुम्भ ने क्रुध होकर, दूतों को अपमानित करके निकलवा दिया। राजदूतों ने जाकर अपने-अपने स्वामी से कहा—महाराज! हम आपका संदेश लेकर कुम्भ राजा की सभा में उपस्थित हुए थे, परन्तु याचना के प्रत्युत्तर में उन्होंने हमें अपमान के साथ बाहर निकलवा दिया। यह सुनकर छहों राजा कुपित होकर अपनी २ सेना सजाकर मिथिला नगरी की सीमा पर आ पहुँचे।

कुम्भ राजा पहले ही समझ चुके थे की भविष्य में संघर्ष होगा। वह अपनी सैनिक तैयारी कर चुके थे। छह राजाओं को सीमा पर आया जानकर वह युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गए।

एक ओर छह राजाओं की छह बलवती सेनाएँ थीं और दूसरी ओर एकाकी कुम्भ की सेना! फिर भी वीरपुंगव कुम्भ उनका सामना करने को उद्यत हो गए। मगर परिणाम वही हुआ जो होना था। संग्राम में विजय की आशा न रही तो सेना सहित वे मिथिला नगरी में घुस गए। नगरी के समस्त द्वार बंद कर दिये गए। राजाओं ने चारों ओर से मिथिला को घेर लिया।

कुमारी मल्ली प्रतिदिन, नियम के अनुसार प्रातःकाल माता-पिता के चरणस्पर्श किया करती थी। तीर्थङ्कर होने पर भी माता-पिता को नमस्कार करना कितनी बड़ी बात है। उनकी विनम्रता स्पृहणीय, अनुकरणीय और सराहनीय है। परन्तु आज के

युग में इस प्रकार का विनयभाव कहां है? आधुनिक शिक्षा से शिक्षित नवयुवक माता-पिता को नमस्कार करने में अपना अपमान मानते हैं। जिन माता-पिता ने अपनी समस्त सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देकर बालक का पालन-पोषण और संगोपन किया, जिन्होंने उनके सुख को अपना सुख और दुःख को अपना दुःख समझा सब प्रकार से योग्य बनाया, उन्हीं माता-पिता की इज्जत करने में जो बालक अपनी बेइज्जती समझते हैं, उनके विषय में क्या कहा जाय? आज की शिक्षा प्रणाली भी इसके लिए कम उत्तरदायी नहीं है। प्राचीन काल में सन्तान माता-पिता को देवता-स्वरुप समझकर उनका सम्मान करती थी।

हां, तो मल्ली कुमारी उस दिन पिता को प्रणाम करने गई तो देखा कि पिताजी के मुखमण्डल पर गहरी चिन्ता और शोक की छाया पड़ रही है। कारण पूछने पर कुम्भ ने कहा—बेटी, क्या कहूं और क्या न कहूं! वे छहों राजा चढ़ आए हैं। मेरी सेना ने उनका सामना किया, मगर वह टिक नहीं सकी। तब मैं लौट कर नगरी में आ गया हूं। नगरी के द्वार बंद करवा दिये गए हैं। आक्रमणकारी घेरा डाले हुए हैं। इस प्रकार कितने दिनों तक भीतर घुसे रहेंगे! तू एक है और याचना करने वाले राजा छह हैं। किसी भी एक के साथ विवाह कर देने पर भी तो संघर्ष नहीं टल सकता।

कुमारी ने कहा—परिस्थिति की विषमता ही धैर्य की कसौटी

है पिताजी ! चिन्ता करने से कोई भी उलझन नहीं सुलझती, बल्कि सुलझाने की शक्ति कुंठित हो जाती है। मैं पहले ही निवेदन कर चुकी हूं कि इस समस्या का समाधान आप मुझ पर छोड़ दें। आप मेरा कहा कीजिए और देखिए कि किस प्रकार सरलता से सारा संकट काफूर हो जाता है।

मल्ली कुमारी से इस प्रकार आश्वासन पाकर राजा कुम्भ को बड़ी सान्त्वना मिली। उदासी कम हुई, उत्साह जागृत हुआ। वह बोला—बेटी, कहो, क्या करना चाहती हो ?

भाइयों ! चिन्तातुर व्यक्ति को सहसा आश्वासन प्राप्त होने पर बड़ा अवलम्ब मिलता है, उम्र कितनी ही छोटी क्यों न हो, मगर बुद्धि यदि विकसित है तो वह गंभीर से गंभीर समस्या का हल खोज सकता है। जिसकी बुद्धि बड़ी होती है, प्रत्येक उसकी बात को मानने के लिए तैयार हो जाता है, बच्चों को समझाने के लिए इस विषय में एक उदाहरण दिया जाता है।

किसी जंगल में एक हाथी रहता था। उसी जंगल में बहुत-से चूहे भी रहते थे, वे किसानों की फसल को हानि पहुं-चाया करते थे। एक किसान ने बहुत परेशान होकर सोचा—यों काम चलने वाला नहीं है। यह चूहे मेरी सारी मिहनत बेकार कर देंगे। यह सोचकर उसने एक चूहादानी लाकर खेत में रख दी और उसमें रोटी के टुकड़े डाल दिये। चूहे उधर गये तो

रोटी के टुकड़े देखकर चूहादानी में घुस गए। उनके प्रवेश करते ही चूहादानी का द्वार बंद हो गया और चूहे उसमें फँस गए। बहुत कोशिश करने और छटपटाने पर भी वे बाहर नहीं निकल सके।

संयोगवश उसी समय वह हाथी उधर से निकला। चूहों को पींजरे में छटपटाते देखकर उसके दिल में दया उपजी। उसने सोचा-यह सारी बदमाशी किसान की है। उसी ने बेचारे चूहों को बंद कर दिया है। सवेरा होते ही वह इनका कचूमर निकाल देगा।

यह सोचकर हाथी ने एक ऐसा झटका लगाया कि पींजरा तत्काल टूट गया। चूहे जान बचाकर भाग गए।

प्रातःकाल आकर किसान ने देखा-पींजरा टूटा पड़ा है। इधर-उधर ध्यानपूर्वक देखने पर उसे हाथी के पैर दृष्टिगोचर हुए। वह समझ गया कि यह करतूत हाथी की है और पहले हाथी का ही खात्मा करना चाहिए, उसने एक बड़ा-सा गड्ढा खोदा और उसे ऊपर से घास-फूस से ढ़ंक दिया। उसने सोचा-हाथी इधर आएगा और गड्ढे में पांव रखते ही गिर कर मर जायगा। किसान ने जो सोचा था, वही हुआ। हाथी गड्ढे में गिर पड़ा और गिरते ही चिंघाड़ने लगा।

हाथी की चिंघाड़ चूहों के कानों में पड़ी। वे सब इकट्ठे

हुए और कहने लगे–हाथी हमारा रक्षक है और वह किसी विपदा में फंस गया हैं। हमें अवश्य ही उसकी सहायता करनी चाहिए, प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया। चूहों की सेना ने गजराज की रक्षा करने के लिए प्रस्थान किया, जाकर देखा कि हाथी मुसीबत में फंस गया है और इसी समय कोई उपाय नहीं किया गया तो फिर उसकी प्राणरक्षा करना कठिन हो जाएगा। ऐसा सोचकर सब चूहे मिट्टी खोदने में जुट गए। जहां सैकड़ों मजदूर पूरे मन से संलग्न हो जाएं वहां काम होते क्या देर लगती है, तो चूहों ने मिट्टी खोद-खोदकर रास्ता बना दिया और हाथी आसानी से बाहर निकल आया।

प्रभात होते ही किसान आया। गड्ढे को देखकर उसे यह समझते देर न लगी कि चूहों ने मिट्टी खोद कर हाथी के लिए रास्ता बना दिया और हाथी बच निकला। उसने कहा-छोटे भी क्या कुछ नहीं कर सकते। लगन एवं संकल्प में दृढ़ता हो तो छोटे बड़ों से भी बाजी मार ले जाते हैं।

मित्र न छोटा समझिए, तासे सुधरे काज।
सब मूसा मिल काढियौ, खाड़ पड्यो गजराज ॥

बुद्धि किसी की वपौती नहीं। वह न शरीर जाति, लिंग अथवा वेष पर निर्भर है न आयु पर ही। उसका अन्तरंग कारण ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है और वाह्य कारण वातावरण

आदि अनेक हैं, यही कारण जब जितनी मात्रा में सन्निहित होते हैं, तब बुद्धि का उसी परिमाण में विकास होता है। अतएव वयस् में छोटा होने पर भी कोई अधिक बुद्धिशाली हो सकता है। यद्यपि मल्ली कुमारी उम्र में छोटी थी, मगर प्रखर बुद्धि का भण्डार थी। कुम्भ राजा अपनी कन्या को भली भांति जानते थे, अतएव प्रस्तुत संकट के निवारण का उपाय उन्होंने उसे सौंप दिया। कहा -जो उपाय तुम बतलाओगी, वही करूंगा।

मल्ली कुमारी ने कहा--आप छहों राजाओं को पृथक्-पृथक् दूत भेज कर कहला दीजिए कि यदि आप विवाह करना चाहते हैं तो अमुक समय पर मेरे नवीन निर्मापित भवन में आ जाइए। इस प्रकार आमंत्रण पाकर जब छहों यहां आ जाएँगे तो मैं सब सँभाल लूँगी।

राजा कुम्भ ने मल्ली कुमारी के कथनानुसार छहों राजाओं के समीप दूत भेज दिए और आने का समय, मार्ग तथा स्थान भी बतला दिया. प्रत्येक को यह भी कहला दिया कि राजा कुम्भ आपके साथ कुमारी का पाणिग्रहण कराना चाहते हैं।

यह संवाद पाकर छहों राजा प्रसन्न हुए और सजधज के साथ राजा कुम्भ के भवन में पहुँचने की तैयारी करने लगे। एक कवि ने कविता में इस प्रसंग का इस प्रकार वर्णन किया है—

(तर्ज–गरबा की)

मोहन घर तो बणायो जग जाण वाने,
छेहुं राजा का कारज सारवाने ॥ टेक ॥
सोना चांदी से खम्ब अति कोरिया रे,
लीला पन्ना भीतां पर ढोरिया रे ॥ मोहन० ॥

इस कविता में श्रीमद् ज्ञातासूत्र के अनुसार वर्णन किया गया है। मल्ली कुमारी ने ऐसा मोहनगृह बनवाया कि उसमें प्रवेश करने वाले फौरन मोहित हो जाएँ। वहां सोने-चांदी के स्तम्भ बनाये गये और दीवारों में जवाहरात जड़ा गया था। भवन की बनावट इस ढङ्ग की थी कि छहों राजा उसमें मौजूद रहें परन्तु वे एक दूसरे को देख न सकें। बीच में रक्खी हुई मल्ली कुमारी की सोने की पुतली को वे सब भलीभांति देख सकते थे। कहा है—

गर्भ घर छेह तो माहे भला रे,
रस्ता न्यारा २ तो मांही वेगला रे ॥ मो० २ ॥
पंच रतन कीया पीठिका रे,
हीरा पन्ना जवाहर माहिं जड्या रे ॥ मोह० ३ ॥
माही पोली कनक किया प्रतिमा रे,
आप सरीखी दीखे तो याकृति मारे ॥ मो० ४ ॥
एक ग्रास प्रक्षेपे नित्य जिमतां रे,

बधी दुर्गंध कहुंगा मैं तो आगले रे ॥ मो० ५ ॥
बहु मोत्यां की लागी तिहां झालरथा रे,
चित्र पंखी ना मांड्या बहु मालिया रे ॥ मो० ६ ॥
सनमान्या तो नरम बिछावणा रे,
राग रंग देखी ने सुख पावणा रे ॥ मो० ७ ॥
नवमी ढाल कही या मन भावती रे,
छेहुँ राजा के है चित चावती रे ॥ मो० ८ ॥

कविता का अर्थ स्पष्ट है, इसमें मोहनगृह की बनावट और सजावट का वर्णन किया गया है। आगे कहा है—

(तर्ज--पनजी मुंडे बोल)

म्हाला मुंडे बोल,
बोल बोल अति स्याणी सुन्दर कइं थारी मरजी रे ॥ टेक ॥
छेहुं भूपति मोहन घर में न्यारा न्यारा बोले रे।
उदय कर्म का जोग हुआ, फेर कांइ न तोले रे ॥ म्हाला० ॥
सेना छोड़ बाहिर भूपति, आया परणवा राजी रे।
एक एक का रन में जाणे, मिले सुन्दर ताजी रे ॥ म्हाल० ॥
मल्लि कुंवरी सरीखी दीसे, कनक पुतली जैसी रे।
हवाभाव करती बहु राजी, अप्पसरा जैसी रे ॥ म्हाला० ॥
जारी झरोखा रंग रंगीला, हीरा मोती जड़िया रे।
देखी रचना मोहनघर की, ऊँचा नीचा चढ़िया रे ॥ म्हाला० ॥

आसण सुख भद्रासन, सुवे उठे बैठे रे।
पल पल में दीखे अति साम्हो, घणो मन तूठे रे ॥ हाला० ॥
हाथ लगावण चावे रे राजा, जाली पुतली मांही रे।
चौतरफ से कीयो बन्दोवस्त, जोर न कांई रे ॥ हाल० ॥
मोह्या मोह्या घणाज मोह्या; शुद्ध रही नहीं कांई रे।
आगे हुवे ते सुणजो ढाल उगणीसमी गाई रे ॥ हाला० ॥

मोहनगृह में पृथक् पृथक छह कमरों में बैठे हुए राजा प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब मल्ली कुमारी के साथ हमारा विवाह सम्पन्न हो ! कब मल्ली हमें प्राप्त हो ! मल्ली कुमारी की पुतली को साक्षात् कुमारी समझ कर वे उसके सौन्दर्य पर अत्यन्त मुग्ध हो रहे थे। मगर पुतली के चारों ओर इस प्रकार जाली लगी हुई थी कि वे उसके पास नहीं फटक सकते थे।

(तर्ज—खबर नहीं या जग में कल की)

ये तन पाहुणा रे, या को मत कोई करो गुमान ॥ टेक ॥
तीर्थङ्कर चक्री हुआ रे, जाको कोमल वर्ण शरीर।
शास्त्र देवे साक्षी रे, पल में छोड़ गया अमीर ॥ ये० १ ॥
अंतेवर इन्द्राण्या जसी रे, रमण्या रूप विशेष।
गेणा कपड़ा जड़ाव का रे, जामें मोह्या सुर नर देख ॥ ये० २ ॥
अन्दर हाड़ ने मांस जिण के, माय भर्यो दुर्गंध।
ऊपर मढ़ियो चामड़ो रे, मति भूलो मतिमंद ॥ ये० ३ ॥

दोय धातु से तन बण्यो रे, देखो ज्ञान विचार।
मल मूत्र की कोथली रे, अशुचि तणो भण्डार ॥ ये० ४ ॥
ऊपर रग सुरंग जिण के, ऊपर बहु सिणगार।
मन मान्या करता घणा रे, निकल गयो भिंगार ॥ ये० ५ ॥
समझो समझो राजवी रे, पूर्वभव लेवो सोच।
सातों आपण कुण था रे, जाको करो आलोच ॥ ये० ६ ॥
माया करी मैं आपर्था रे, भयो कामिनी रूप।
ढाल हुई इक्कीसमी रे, समझा छेहूं भूप ॥ ये० ७ ॥

कहा जा चुका है कि मल्ली कुमारी प्रतिदिन जो भोजन करती थी; उसमें से एक-एक कवल पुतली में डाल दिया करती थी। वह भोजन पुतली में पड़ा हुआ सड़ रहा था और दुर्गंधपूर्ण बन रहा था, मगर ढक्कन ढंका होने के कारण दुर्गंध बाहर नहीं निकल पाती थी।

छहों राजा अपने-अपने कमरे में से पुतली के रूप सौन्दर्य को देख-देख मोहित हो रहे थे। सोचते थे-हम जिसके लिए यहां तक आए, उसके दर्शन हो गए, मगर अफसोस है कि यह बोल नहीं रही है।

जब मल्ली कुमारी ने देखा कि ये सब विकार से उत्तेजित हो रहे हैं और पुतली के रूप पर मुग्ध हो गये हैं, तब उन्होंने उन्हें शिक्षा देने का अनुकूल अवसर देखा, कुमारी ने आकर

पुतली का ढक्कन हटा दिया। ढक्कन हटते ही पुतली में से घोर दुर्गन्ध निकलने लगी, मानों गंदे गटर की बदबू हो या मरे हुए सर्प या चूहे के कलेवर की बदबू हो! उस दुर्गन्ध से राजाओं का सिर फटने लगा। कामविकार हवा हो गया और वहां एक पल ठहरना भी भारी जान पड़ने लगा।

तत्पश्चात् पुतली का ढक्कन बंद करके कुमारी साक्षात् रूप में राजाओं के समक्ष उपस्थित हो गई और प्रतिबोध देती हुई कहने लगी—नृपतिगण! आप लोग जिस पुतली के रूपसौन्दर्य को निहार कर मुग्ध हो रहे थे, उसी की दुर्गन्ध से तिलमिला क्यों उठे? वह दुर्गन्ध आपको सहन न हो सकी। मगर मालूम है कि वह दुर्गन्ध आई कहां से है? वह मेरे द्वारा किये जाने वाले आहार की ही है। यह शरीर क्या इस पुतली के ही समान नहीं है? आप इसके बाहरी ढांचे को देखकर मोहित हो रहे हैं, किन्तु कभी भीतर के रूप का भी विचार किया है? यह काया हाड-मांस का पींजरा है। इसके भीतर मल मूत्र भरा पड़ा है। वह मल मूत्र शरीर के विभिन्न द्वारों से निकलता रहता है। गनीमत है कि शरीर चमड़े की चादर से मढ़ा हैं। यदि इस चादर को हटा दिया जाय तो कितना विद्रूप दिखाई देगा? कौवों और कुत्तों से इसकी रक्षा करना असंभव हो जायगा। ऐसे घृणास्पद शरीर पर लुभाना क्या आप जैसों को शोभा देता है?

नरेशो! आपको अपने पूर्वभव का स्मरण नहीं आता?

मैं पूर्वभव में महाबल राजा थी और आप छहों मेरे अनन्य मित्र थे। हम सब संयम ग्रहण करके तपस्या करते थे। मैंने आपसे छिपाकर अधिक तपस्या की-कपट किया। हम सब काल करके जयंत विमान में उत्पन्न हुए। उसके हम मनुष्य पर्याय में आए हैं, मगर कपट के प्रभाव से मुझे नारी का तन मिला और आप छहों नर रूप में जन्मे हैं। अपने पूर्वभव के मित्रों को प्रतिबुद्ध करना अपना कर्त्तव्य समझ कर ही मुझे यह सब करना पड़ा है।

मल्ली कुमारी के उद्बोधक वचन सुनते ही छहों राजाओं ने विचार किया-ओह! हम इस निस्सार शरीर पर मुग्ध हो रहे हैं। इस प्रकार विचार करते-करते उन्हें जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे अपने पूर्वभवों को जानने लगे।

तब कुमारी ने कहा-मैं इस बहुमूल्य जीवन को विषय-वासना के कीचड़ में फंसा कर नष्ट नहीं करना चाहती। मैं संयमधर्म का पालन करूंगी। आप लोगों का क्या विचार है?

भाइयो! जो राजा कामभोग के पंक में फंसे थे, वही मल्ली कुमारी के उद्बोधन से मुनिदीक्षा अङ्गीकार करने को तैयार हो गए। आप हमारा चौमासा करवा कर और उपदेश सुनकर क्या करना चाहते हैं? आप कुछ भी त्याग नहीं करना चाहते। आपसे धन की ममता नहीं छूटती। सरकारी कानून से

बाधित होकर सप्ताह में एक दिन छुट्टी रखनी पड़ती है, मगर उस दिन भी आप आना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में धर्मश्रवण का अवसर कैसे मिल सकता है ?

मल्ली कुमारी ने छहों विषयान्ध भूपालों को प्रतिबोध देकर वैराग्यभाव में स्थिर कर दिया। अन्ततः उन्होंने भी दीक्षा अङ्गीकार कर ली।

दीक्षा ग्रहण के एक प्रहर पश्चात् ही मल्ली स्वामी को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। स्त्रीलिंग में होने के कारण वे दिन में पुरुष-परिषद् में और रात्रि में स्त्रीसभा में रहते थे। यद्यपि उन्होंने विकार-वासना का समूल उन्मूलन कर दिया था, फिर भी व्यवहार के निर्वाहार्थ ऐसी मर्यादा की थी।

यह ज्ञातासूत्र के आठवें अध्ययन का सार है। जो भव्य प्राणी भगवती मल्ली के समान अपने को धर्म में स्थिर करेंगे, उनका भव-सागर से अवश्य ही निस्तार हो जाएगा।

अमरसेन-वीरसेन चरित—

यही बात चरित के द्वारा आपके समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। आशा है आप इसे ध्यानपूर्वक श्रवण करेंगे और अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे।

बतलाया जा चुका है कि अमरसेन ज्यों ही पूजन का

थाल लेकर देवी के मन्दिर में प्रविष्ट हुआ और पूजन में तल्लीन हुआ, त्योंही वह वेश्या अमरसेन की पावड़ियां लेकर उड़ गई और अपने स्थान पर चली गई। पूजन करके अमरसेन जब बाहर आया तो उसने देखा न वेश्या है और न पांवड़ियां ही। उसने इधर-उधर खोज की परन्तु धूर्त्त वेश्या वहां थी ही कहां कि मिलती।

अमरसेन घोर चिन्ता में डूब गया और एक चबूतरे पर बैठकर अपनी विषम स्थिति पर विचार करने लगा। किन्तु पुण्य-वान् जीव के दुःख के दिन लम्बे नहीं होते। संयोगवश एक विद्याधर विमान में बैठा उस ओर से आ निकला। उसका विमान चलते चलते अचानक रुक गया। विद्याधर जानता था कि तीन कारणों से विमान की गति सहसा अवरुद्ध हो जाती है। यहां उनमें से ही कोई कारण होना चाहिए। कारण की तलाश में वह देवी के स्थान पर आया। उसने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो देखा कि व्यक्ति चिन्ता-सागर में निमग्न चबूतरे पर बैठा है। विद्याधर ने उसके निकट पहुँचकर अकेले चिन्तितावस्था में बैठने का कारण पूछा।

विद्याधर को आया देख अमरसेन के मन में आशा की किरण प्रस्फुटित हुई, मानों सागर में डूबते को नौका का सहारा मिला। उसने विद्याधर को अपनी बीती कहानी सुनाई। तब विद्याधर ने कहा—भाई, चिन्ता न करो। तुम्हारे पुण्ययोग से मैं

इधर आ निकला हूं। मगर अभी मैं महाविदेह क्षेत्र में विहरमान भगवान् सीमन्धर स्वामी के दर्शन के लिए जा रहा हूं। पन्द्रह दिनों के बाद वहां से लौटूंगा। तब तुम्हें अभीष्ट स्थान पर पहुंचा दूंगा।

अमरसेन ने कहा—महाशय, आपके अनुग्रह के लिए कृतज्ञ हूं मगर भगवान् के दर्शन करने में पन्द्रह दिन तो नहीं लगते हैं। आपके इतना रुकने का क्या कारण है?

विद्याधर बोला—वहां एक राजा अपने एक सहस्त्र साथियों के साथ भगवान् के निकट दीक्षा ग्रहण करने वाला है। उस दीक्षा के महोत्सव में सम्मिलित होने का मुझे आमंत्रण मिला है इसी कारण वहां इतने दिनों तक रुकना पड़ेगा। आप चाहें तो मेरे साथ चल सकते हैं। वहां चलने से दीक्षा का भव्य दृश्य देखने को मिलेगा और तीर्थङ्कर भगवान् की अमृतवाणी को श्रवण करने का भी सुअवसर प्राप्त होगा।

अमरसेन अपना विचार स्थिर न कर सका। तब उसने कहा—महाशय, आप ही पधारिए। इस समय मेरा चित्त स्वस्थ नहीं है। मैं यहीं रहकर आपके लौटने की प्रतीक्षा करूंगा। आप मुझे ले जाना भूल न जाइएगा।

विद्याधर ने चलने की पुनः प्रेरणा की मगर अमरसेन ने पुनः इंकार कर दिया।

तब विद्याधर बोला-अच्छा, मेरे लौटने तक तुम यहीं रहना। मगर तुम इस स्थान से अपरिचित हो, अतएव मैं कुछ आवश्यक निर्देश देना चाहता हूं। देखो, वह जो दो वृक्ष दिखाई दे रहे हैं, उनके निकट भूल कर मत जाना, शेष वृक्षों के पास जा सकते हो। यहां अनेक प्रकार के फूल-फल हैं, उन पर अपना निर्वाह करना।

इस प्रकार सूचना देकर विद्याधर महाविदेह क्षेत्र की ओर प्रस्थान कर गया। वहां वह राजा यशोधर का अतिथि बना, भगवान् सीमन्धर स्वामी के दर्शन करके और उनकी पीयूष-वर्षिणी वाणी श्रवण करके वह अत्यन्त हर्षित हुआ। तत्पश्चात् दीक्षा महोत्सव में भाग लेकर ठीक पन्द्रह दिनों के पश्चात् अमरसेन के पास आ पहुंचा। विद्याधर वहां भी दस दिन रुका रहा। ग्यारहवें दिन उसने अमरसेन से कहा-भाई, चलो, तुम्हें तुम्हारे अभीष्ट स्थान पर छोड़ दूं। फिर मैं अपने स्थान पर जाऊँगा।

तब अमरसेन ने विद्याधर से कहा-महाशय, आपके आदेश के अनुसार ही मैं यहां रहा हूं। आपने इन दो वृक्षों के निकट न जाने का आदेश दिया था, मैंने उसका भी पालन किया है। परन्तु अब यह जानना चाहता हूँ कि आपके प्रतिषेध का क्या कारण था? कृपया बतलाइए।

विद्याधर बोला-देखो, इनमें से एक वृक्ष के फूलों में यह

तासीर है कि उन्हें सूंघने से मनुष्य गधा बन जाता है। दूसरे वृक्ष के फूल सूंघने से वह गधा पुनः मनुष्य बन जाता है इस विडम्बना से बचने के लिए ही मैंने इनके निकट न जाने के लिए सावधान किया था।

विद्याधर का उत्तर सुनकर अमरसेन ने सोचा-दोनों वृक्ष अद्भुत हैं! घर जा रहा हूं तो इनमें से एक-एक क्यों न लेता जाऊँ? कभी किसी अवसर पर काम ही आएँगे।

यह सोच कर उसने दोनों वृक्षों में से एक-एक फूल ले लिया और उन्हें सावधानी से अपने पास रख लिया।

भाइयो! गृहस्थ संचयवृत्ति वाले होते हैं। कभी कोई भी चीज उनके काम आ सकती है।

फूलों को सँभाल कर अमरसेन विमान पर सवार हो गया। तब विद्याधर ने पूछा-कहो. तुम्हें किस जगह पहुंचा दिया जाय?

अमरसेन ने कहा-महाशय, मुझे सिंहलपुर जाना है।

विद्याधर ने सिंहलपुर की ओर विमान बढ़ा दिया। थोड़ी ही देर में सिंहलपुर आ गया। विद्याधर ने कहा—देखा, यही सिंहलपुर है। यह सामने नगर दिखाई दे रहा है। सिंहलपुर पर दृष्टि पड़ते ही अमरसेन का चित्त खिल उठा। उसने विद्याधर के प्रति आन्तरिक भाव से कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा-श्रीमन्! आपने मेरा जो उपकार किया है, उसे मैं कदापि नहीं भूलूँगा।

विद्याधर ने अपना सौजन्य प्रकट किया-भाई, इसमें उपकार की बात ही क्या है। मैं मानव हूं और मानव को मानव का सहायक होना ही चाहिए। जो समर्थ होता हुआ भी दूसरे के संकट को दूर नहीं करता, उसके सामर्थ्य को धिक्कार है। उसका सामर्थ्य आखिर किस बीमारी की दवा है ?

भाइयो ! कृतज्ञताज्ञापन भी एक बड़ा गुण है। कई लोग ऐसे भी मिलते हैं जो दूसरों से उपकृत होकर भी कृतज्ञ नहीं होते। इस प्रकार का व्यवहार शिष्टाचार से भी प्रतिकूल है। जब कोई आपकी कुछ सहायता करे तो आपका कर्त्तव्य है कि आप उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें। ऐसा करने से आप अपनी सज्जनता प्रकट करेंगे और सामने वाले को प्रोत्साहन मिलेगा, जिससे वह दूसरों का उपकार करने को प्रेरित होगा।

विद्याधर अमरसेन को उतार कर अपने गन्तव्य मार्ग पर रवाना हुआ। अमरसेन अकेला रह गया और सोचने लगा-अब मुझे कहां जाना चाहिए ? उसे वेश्या के घर के अतिरिक्त दूसरा कोई स्थान ही ध्यान में नहीं आया। वह सिंहलपुर में प्रविष्ट हुआ और शून्यभाव से चलता २ वेश्या के घर के समीप जा पहुंचा।

वेश्या के मकान के निकट ही महाजन की एक दुकान थी। महाजन दुकान में बैठा था। उसकी दृष्टि अमरसेन पर पड़ी और उसने पूछा-कुंवर साहब ! इतने दिन कहां चले गए थे।

अमरसेन ने कहा-कहां, नहीं, कहीं तो नहीं।

यद्यपि अमरसेन ने प्रश्न के उत्तर में टालमटोल की तथापि उसकी आवाज वेश्या के कानों में पड़ ही गई। वह मकान से बाहर आई और अमरसेन को देख कर सोचने लगी-मैं इसे देवस्थान में असहाय और एकाकी छोड़ आई थी, यह वहां से कैसे आ धमका। हो न हो, यह मेरे लिए कल्पवृक्ष के समान है। मैं जैसे-जैसे धोखा देकर इसे निकालती हूं, यह अधिकाधिक लाभ देने के लिए मेरे पास आ जाता है। पहले दो बार यह वापिस आया तो कोई न कोई चमत्कारी चीज साथ लाया। इस बार यह सागर पार करके आया है तो अवश्य कोई अद्भुत वस्तु इसके पास होनी चाहिए। अतएव इसे किसी चतुराई से वशीभूत कर लेना और फायदा उठा लेना चाहिए।

किस प्रकार वेश्या अमरसेन के पास आती है, किस प्रकार त्रियाचरित करके उसे भुलावे में डालती है और किस प्रकार गधेड़ी बनती है, यह सब घटनाएँ आगे यथासमय बतलाने की भावना है।

भाइयो! जो भव्य प्राणी अपने जीवनकाल में दूसरों का उपकार करेंगे और अपनी आत्मा को उन्नत बनाएँगे, वे इस लोक और परलोक में सुखी बनेंगे।

प्रासंगिक—

भाइयो ! आपके नगर में रूपनगढ़ (राजस्थान) से दो सज्जन आए हैं। वे कुछ आशा लेकर आए हैं। रूपनगढ़ में मंत्री मुनिश्री सेंसमलजी म० का स्वर्गवास हुआ है। उनके दाह-संस्कार के समय करीब दस हजार नर-नारी एकत्र हुए थे। उसी समय मंत्री मुनिश्री की स्मृति में एक छात्रालय स्थापित करने की योजना सोची गई और कुछ धनसंग्रह भी किया गया। जो भाई यहां आए हैं; उनके बंगले में ही मंत्रीजी म० का स्वर्गवास हुआ था और यह बंगला इन्होंने समाज को धर्मध्यान के लिए भेंट कर दिया है।

यहां के भाइयों ने प्रयत्न करके एक कुआ खुदवाया है और कबूतरों को चुगने के लिए चबूतरा बनवाया है। अब छात्रालय के लिए ग्यारह कमरों की योजना है, जिनमें रह कर छात्र अध्ययन कर सकें और सत्संस्कार प्राप्त कर सकें। यह योजना पचास हजार की बतलाई गई है। आप इनकी बात सुनेंगे और जितनी ममता उतार सकेंगे, उतना ही आपका कल्याण होगा।

कैन्टोनमेंट बैंगलोर
५-१०-५१

विषैली परिणति
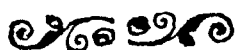
भाइयो !

श्रीमत्समवायांग सूत्र में ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों का उल्लेख है, जिनमें से आठ अध्ययनों का सार-स्वरूप आपको सुनाया जा चुका है। नौवें अध्ययन में साकन्दीपुत्रों का उदाहरण देते हुए शास्त्रकार फर्माते हैं—

चम्पा नगरी में साकंदी नामक एक सेठ रहता था। उसके दो पुत्र थे। क्रमशः उनके नाम थे—जिनपाल और जिनरक्ष। पुत्र पढ़-लिख कर निष्णात हो गए तो पिता ने श्रीमन्त घरानों में उनका विवाह कर दिए। पुत्र भी अपने पिता के धंधे में जुट गए। उन्होंने व्यापार के निमित्त ग्यारह वार समुद्रयात्रा की और यथेष्ट धनोपार्जन किया। मगर 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों त्यों लोभ बढ़ता है, इस उक्ति के अनुसार उनकी तृष्णा इतनी बढ़ी कि वे बारहवीं बार पुनः समुद्रयात्रा की सोचने लगे। माता-पिता ने उनसे कहा—पुत्रों ! तुम ग्यारह वार समुद्रयात्रा कर चुके हो और व्यापार में अपरिमित धन उपार्जन

कर चुके हो। अब सन्तोष धारण करो। बड़ों बूढ़ों का कहना है कि बारहवीं बार की समुद्रयात्रा शुभ और सुखद नहीं होती। फिर अपने यहां निर्वाह के लिए पर्याप्त धन है। धन जीवन का लक्ष्य तो है नहीं, निर्वाह का साधन मात्र है। वृथा संचय करने से क्या लाभ है? अगर मनुष्य धर्म और नीति के अनुसार चले तो थोड़े से धन से ही काम चल सकता है। फिर तुम्हारे पास तो इतना धन है कि यथेष्ट उपभोग करने और दान देने पर भी सात पीढ़ियों में समाप्त न हो। ऐसी स्थिति में क्यों खतरा मोल लेते हो? सुख से रहो, सन्तोष का जीवन व्यतीत करो।

माता-पिता की यह हितशिक्षा लड़कों के दिमाग को नहीं रुची। उनके जीवन में लोभ का समावेश हो चुका था। उन्होंने यह सबक सीख रक्खा था कि वणिक् को कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए। अतएव उन्होंने समुद्रयात्रा करने का निश्चय कर ही लिया और नगर में घोषणा करवा दी कि जिसे व्यापार के निमित्त विदेशयात्रा करनी हो, वह जिनपाल और जिनरक्ष के साथ जहाज में चल सकता है। यह सूचना पाकर कई व्यापारी उनके साथ जाने को उद्यत हो गए।

आखिर दोनों भाई समुद्रयात्रा पर रवाना हो गए। जब वे बीच समुद्र में पहुंचे तो अकस्मात् तूफान आ गया। जहाज थोड़ी देर डगमगाया और फिर सारे सामान के साथ डूब गया।

संयोग की बात समझिए कि दोनों भाइयों के हाथ लकड़े का पाटिया लग गया और उसके सहारे तरते-तरते दोनों पार लग गए। जब वे किनारे पहुंचे तो समुद्री पानी से उनका शरीर खराब हो गया था, किनारे पर उन्हें नारियल के वृक्ष दिखाई दिए। उन्होंने नारियल तोड़ कर उनमें से तेल निकाला और शरीर पर मालिश की। दोनों भाई अत्यन्त उदास, चिन्तित और शोकाकुल थे। उनका समस्त सौदा समुद्र के गर्भ में विलीन हो चुका था, परिवार बिछुड़ चुका था और भविष्य अन्धकारमय बन चुका था। वह आपस में कहने लगे—हाय! हमने माता-पिता की हितकारी सीख पर ध्यान नहीं दिया और उसी के फल-स्वरूप आज हम इस विषम स्थिति में आ पड़े हैं।

उसी समय रयणा नामक एक देवी समुद्र की सफाई के लिए निकली और वहां जा पहुँची। दोनों श्रेष्ठिकुमारों की तरुण अवस्था और रूपसौन्दर्य को देख कर वह उन पर मुग्ध हो गई। कामान्ध होकर और उन्हें मीठे-मीठे वचनों से लुभाकर और साथ ही धमकी देकर वह उन्हें अपने भवन में ले गई। दोनों के साथ आनन्द विलास करने लगी, देवांगना होकर भी वह मानवों के साथ कामभोग कर रही थी।

रयणा देवी जब समुद्र की सफाई के लिए बाहर जाने लगी तो उसने दोनों से कहा—देखो, मैं अपने नियोग पर जा रही हूं। इस भवन में तुम्हारा मन न लगे तो पूर्व की ओर घूमने

चले जाना। वहां के उद्यान में सदैव दो ऋतुओं की बहार रहती है। वहां भी तबियत न लगे तो पश्चिम के उद्यान में चले जाना। वहां भी दो ऋतुओं के फल-फूल विद्यमान हैं। जब वहां से भी जी ऊब जाय तो उत्तर दिशा में चले जाना। मगर याद रखना, दक्षिण दिशा में भूल कर भी मत जाना। वहां बड़े भयंकर और विषैले सर्प मौजूद हैं। जाओगे तो प्राण गँवा बैठोगे।

इस प्रकार कह कर देवी अपने कार्य पर चली गई। जब दोनों भाई अकेले रह गए और भवन में मन ऊब गया तो वे पूर्व दिशा की ओर चले गए। वहां उन्होंने थोड़ी देर सैर की और तबियत बहलाई। तत्पश्चात् वे पश्चिम दिशा में गए और कुछ देर तक वहां भी घूमते-फिरते रहे। जब वहां भी तबीयत न लगी तो वे उत्तर की ओर चल पड़े और उद्यान की बहार देखने लगे। मगर वहां घूमते हुए भी उनकी तबियत घबराने लगी। तब उन्होंने सोचा-तीनों दिशाओं में हम लोग घूम आए हैं, परन्तु चौथी दक्षिण दिशा में रत्नादेवी ने जाने की मनाई की है। मगर देखना तो चाहिए कि वहां क्या विपदा है? कौन-सा खतरा है।

हिम्मत करके दोनों भाई दक्षिण में चल पड़े। वास्तव में इस दिशा का दृश्य निराला था, कुछ दूर जाने पर उन्हें हड्डियों का ढेर दिखाई दिया। कुछ इधर और बढ़े तो देखा कि एक

पुरुष शूली पर टँगा है ! उसे देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। पूछा-भाई ! तुम्हारी ऐसी स्थिति क्यों हो रही है ?

उस पुरुष ने कराहते हुए कहा-भाइयो! मैं एक व्यापारी हूं, व्यापार हेतु जहाज से विदेश जा रहा था परन्तु जहाज समुद्र में डूब गया और रयणादेवी मुझे अपने भवन में ले आई। बहुत दिनों तक उसने मेरे साथ ऐश-आराम किया और उसके बाद शूली पर लटका दिया है। जान पड़ता है, तुम भी उसके चंगुल में फँस गए हो। स्मरण रक्खो, यही दशा तुम्हारी होगी।

उस पुरुष का कथन सुनकर जिनपाल और जिनरक्ष कांप उठे। उन्हें अन्धकार ही अन्धकार दृष्टिगोचर होने लगा आखिर उन्होंने पूछा-यहां से निकल भागने और प्राण बचाने का कोई उपाय है या नहीं ?

वह पुरुष बोला-हां, एक उपाय है। आगे जाओगे तो वहां शैलक यक्ष का मन्दिर मिलेगा। अमुक-अमुक तिथियों को यक्ष वहां आता है और कहता है-'किसको तारूं, किसको पालूं ?' तुम उसकी आवाज सुनकर कहना-'हम को तारो, पार उतारो।'

उपाय जान कर दोनों भाइयों को किंचत् सान्त्वना मिली। वे उस पुरुष के कथनानुसार शैलक यक्ष के मन्दिर में चले गए। जिस दिन वे मन्दिर में पहुँचे, भाग्यवशात् उसी दिन यक्ष का

आगमन होना था। मूर्त्ति में से ध्वनि निकली–किसे तारूं? किसे पालूं? यह सुनते ही जिनपाल और जिनरक्ष ने दोनों हाथ जोड़-कर निवेदन किया-'कृपा करके हमें तारो, पार उतारो और घर पहुँचा दो।'

मूर्त्ति में से पुनः आवाज आई-'अच्छा, मैं घोड़े का रूप बनाता हूँ। तुम दोनों उस पर सवार हो जाना। मगर एक बात ध्यान में रखना। रयणादेवी बड़ी चंचला और धूर्त्त है। मालूम होते ही वह अवश्य तुम्हारे पीछे-पीछे आएगी और मीठे शब्दों से ललचाएगी। मगर तुम उसकी बातों पर ध्यान न देना। अगर तुम में से किसी ने उसकी ओर देख भी लिया तो मैं उसे पार नहीं करूँगा, बल्कि समुद्र में पटक दूँगा।

दोनों भाइयों ने गद्गद् होकर कहा–देव, हम आपकी आज्ञा नतमस्तक होकर शिरोधार्य करते हैं और देवी की बातों में नहीं आएँगे।

यक्ष ने घोड़े का रूप बनाया और दोनों श्रेष्ठिकुमार उसकी पीठ पर आरूढ़ हो गए। वह आकाश में उड़ने लगा।

थोड़ी देर बाद रयणादेवी समुद्र की सफाई करके जब अपने भवन में आई और इधर-उधर तलाश करने पर भी दोनों कुमार कहीं दिखाई न दिए तो उसने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया। उसे ज्ञात हो गया कि वे शैलक यक्ष की पीठ पर सवार होकर समुद्र के ऊपर से जा रहे हैं। यह जानते ही

देवी तीव्र वेग के साथ उनका पीछा करने दौड़ी और उनके निकट जा पहुंची। देवी रूदनपूर्ण स्वर से ऐसे दीनतापूर्ण वचन बोली कि जिन्हें सुनकर प्रत्येक का दिल पिघल जाए। मगर यक्ष ने उन्हें सावधान कर दिया था कि देवी नाना प्रकार के विलाप करेगी, प्रेम जगाने की बातें करेगी, मगर तुम उसकी बातों में न आना। अतएव बहुत कुछ रोने-धोने पर भी उन्होंने उसकी तरफ फूटी नजर से भी नहीं देखा, वे ललचाए नहीं।

देवी बड़ी धूर्त्त थी, जब उसने देखा कि ये यों वश में आने वाले नहीं है तो भेदनीति अंगीकार की। कहा-अरे जिनरक्ष ! यह जिनपाल तो मुझे कभी भी पसंद नहीं था, मगर तुझे तो मैंने अपने हृदय का प्यार दिया है। अधिक नहीं तो कम से कम एकबार ही मेरी ओर नजर डाल दे। मैं इतने में ही सन्तोष धारण कर लूँगी। इतनी कठोरता भी क्या काम की।

देवी के यह प्रलोभन-वचन सुनकर जिनरक्ष के दिल में अनुराग उत्पन्न हुआ और वह यक्ष देव की चेतावनी को भूल गया। उसने गर्दन मोड़कर देवी की ओर देखा और ज्यों ही उसने देखा कि यक्ष ने अपनी पीठ पर से नीचे पटक दिया।

जिनरक्ष का नीचे गिरना था कि देवी ने उसे अपनी तलवार की नौंक पर झेला और काम तमाम कर दिया।

जिनपाल अपने संकल्प पर दृढ़ रहा। वह तनिक भी नहीं

ललचाया। जिनरक्ष की घात करके रयणा देवी फिर जिनपाल को ललचाने आई, मगर जिनपाल की दृढ़ता देख कर अन्त में उसे निराश होकर वापिस लौट जाना पड़ा। यक्ष ने उसे सही सलामत चम्पा नगरी के बाहर ले जाकर उतार दिया।

जिनपाल की जान तो बच गई मगर बन्धुवियोग से दुःखित होकर, रोता हुआ वह अपने घर पहुँचा। जिनपाल को रोते देख परिवार के सभी लोग रुदन करने लगे। रोते-रोते किसी ने पूछा—जिनरक्ष कहां है? तुम क्यों रो रहे हो?

जिनपाल ने समग्र वृत्तान्त, आदि से अन्त तक, कह सुनाया। समस्त परिवार शोकमग्न हो गया। सान्त्वना का आधार यही रहा कि दो में से एक सकुशल लौट आया।

जिनपाल कहने लगा--पिताजी! आपने समुद्रयात्रा करने की मनाई की थी, परन्तु हमने आपकी आज्ञा की अवहेलना की और मनमानी की, जिसका दुष्परिणाम सामने आ गया। नीतिकार ठीक ही कहते हैं—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।' हमारा सर्वनाश होने वाला था, अतएव हमें उलटी सूझी और आपकी शिक्षा पर ध्यान नहीं दिया। सच है, माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले का कभी हित नहीं होता।

भाइयो! यही वृत्तान्त पद्य रूप में भी बतलाया गया है सो इस प्रकार है:—

जिनरख जिनपाल रयणा द्वीप आये चाले,
रयणा देवी तणी जाल तेमां ते फँसाया है।
शैलक शरण लीयो सुर लेइ चाल्यो तत्र,
देवी आई हाव भाव करी ललचाया है।
जिनरख मोहवश मरियो उदास बीच,
जिनपाल मोहजाल तोड़ घर आया है।
ऐसे मुनि मोह किये वंदत कुगत जाय,
मोह को विछोह किये सुगति सिधाया है॥

भाइयो ! ज्ञातासूत्र में प्ररूपित यह उदाहरण प्रत्येक साधक के लिए शिक्षाप्रद है। जैसे जिनरक्ष रमणी के मोह में फँस कर समुद्र में मारा गया, उसी प्रकार जो साधक स्त्रीमोह में फँस जाता है, वह जीवन से अथवा संयम-जीवन से भ्रष्ट हो जाता है। इसके विपरीत, जो जिनपाल की भांति मोह ममता के जाल को तोड़ देता है, वह सकुशल अभीष्ट स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होता है। इस प्रकार मोही जीव इह-परभव में विविध प्रकार की विपत्तियों का पात्र बनता है जब कि निर्मोही समस्त दुःखों से छुटकारा पा लेता है।

दसवें अध्ययन में चन्द्रमा की कला का उदाहरण दिया गया है। एक (कृष्ण) पक्ष में चन्द्रमा की कलाएँ क्रमशः क्षीण होती जाती हैं और दूसरे (शुक्ल) पक्ष में क्रमशः वृद्धिगत होती जाती

हैं। एकम को एक कला, द्वितीया को दो कलाएँ; इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते आखिर पूर्णिमा को समस्त कलाएँ खिल उठती हैं।

इसी प्रकार आत्मा रूपी चन्द्रमा को कर्म रूपी राहु लगा हुआ है। इस कारण आत्मा पर अज्ञानान्धकार छा जाता है और आत्मा अमावस्या की तरह निविड अज्ञानान्धकार से आच्छादित हो जाता है। उसकी पन्द्रह कलाएँ ढँक जाती हैं, परन्तु जब कर्म की सघनता कम होती है तो आत्मा का प्रकाश प्रकट होने लगता है और क्रमशः आत्मा पूर्ण प्रकाशमय बन जाता है।

भगवान् उपसंहार करते हुए कहते हैं:--साधको! भिक्षुओ! तुमने जन्म जन्मान्तर में कर्मों को बढ़ाने का कार्य किया है, किन्तु अब कर्म रूपी राहु को हटाने का पुरुषार्थ करो। यह दसवें अध्ययन का सार है।

ज्ञातासूत्र के ग्यारहवें अध्ययन में समुद्रतट के वृक्षों का दृष्टान्त दिया गया है। शास्त्रकार ने फर्माया है कि जैसे दरिया के किनारे वृक्ष होते हैं और उन्हें दरिया की तर हवा लगती है तो वे हरे-भरे हो जाते हैं और जब खुश्क हवा लगती है तो वे सूखने लगते हैं। इसी प्रकार जब श्रोताओं के अन्तःकरण को ज्ञानियों की वाणी रूपी तर हवा लगती है तो उनकी आत्मा हरी-भरी हो जाती है और तीर्थंकर की वाणी रूपी हवा लगते ही उनकी आत्मा में जैसे नूतन चैतन्य आ जाता है, परन्तु जब सत्संगति नहीं

मिलती है और मिथ्यात्वियों की वाणी की खुश्क हवा लगती है तो आत्मा में शुष्कता आ जाती है। अतएव आत्मा को हरा-भरा रखने के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञानियों के वचनों का श्रवण किया जाए और सन्तसमागम में समय यापन किया जाए।

बारहवें अध्ययन में जितशत्रु राजा और सुबुद्धि प्रधान का वर्णन है। राजा जितशत्रु एक बार सुबुद्धि प्रधान के साथ सैर करने जा रहा था। नगर के चारों ओर प्राकार के निकट एक खाई थी। उसमें जो गंदा पानी आ गया था, उसमें से अत्यन्त उग्र दुर्गंध निकल रही थी। उस खाई में मरे हुए कुत्ते, सांप आदि डाल दिये जाते थे, इस कारण सड़ांद पैदा हो रही थी।

राजा और प्रधान घोड़े पर सवार होकर उस खाई के पास से निकले। राजा को दुर्गन्ध सहन न हो सकी, अतएव उसने वस्त्र से अपनी नाक ढँक ली। इसी प्रकार राजा के अन्य अनुचरों ने भी अपनी-अपनी नाक दबा ली। परन्तु प्रधान ने अपनी नाक नहीं दबाई। राजा ने कहा—प्रधान ! यह जल कितना दुर्गंधित, अमनोज्ञ और अनिष्ट है, कि इसकी गंध भी असह्य है।

सुबुद्धि प्रधान बोला—महाराज ! पुद्‌गलों का स्वभाव ही ऐसा है। वे इष्ट से अनिष्ट, मनोज्ञ से अमनोज्ञ और प्रशस्त से अप्रशस्त होते रहते हैं। कभी इससे विपरीत भी हो जाते हैं।

राजा को प्रधान का उत्तर रुचिकर नहीं हुआ। वह बोला—

दीवान ! तुम स्वयं गलत राह पर जाते हो और दूसरों को भी उसी पर घसीट ले जाने की कोशिश करते हो। अच्छे से बुरा और बुरे से अच्छा कैसे हो सकता है ?

प्रधान ने कहा-महाराज, समय पर सिद्ध हो जाएगा कि मेरा कथन अयथार्थ नहीं है।

सुबुद्धि वास्तव में सुबुद्धि था, विचारशील, वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञाता। तीर्थङ्करों की वाणी उसने सुनी थी। राजा को तीर्थङ्करवाणी श्रवण करने का अवसर नहीं मिला था, अतएव वह राग-द्वेष की परिणति में चला गया था।

प्रधान ने अपने घर पहुंच कर नौकरों को आदेश दिया-कुम्भार के यहां से कोरे मटके खरीद कर लाओ। मटके आ गए तो उसने अपने विश्वस्त कर्मचारियों से उस खाई का पानी मँगवाया। पानी आ गया तो उसे उन मटकों में भरवा दिया। मटकों के पैंदे में सुराख करवा दिये और उन्हें एक के ऊपर दूसरा-इस प्रकार ऊपर नीचे रखवा दिया। सफाई के लिए मटकों में राख डलवा दी। पानी में हाथ फिरवा दिया जिससे पानी की गंदगी राख के साथ बैठ जाए। अब पानी नितरने लगा। सात दिनों तक यह विधि चलती रही।

उसके बाद चूना डाल कर सात दिनों तक पानी को साफ

किया गया। फिर एक सप्ताह तक फिटकड़ी से। इस प्रकार करने से वह एकदम निर्मल और दुर्गन्धरहित हो गया।

भाइयो ! प्राचीनकाल में आज के समान साधन उपलब्ध नहीं थे, अतएव पूर्वोक्त प्रकार से ही पानी साफ किया जाता था। आज कई वैज्ञानिक साधन आविष्कृत हो चुके हैं।

जब पानी बिलकुल निर्मल हो गया तो प्रधान ने उसमें गुलाबजल डाल दिया। इससे वह पानी सुगन्धित हो गया—'उदकरत्न' बन गया।

प्रधान ने राजा के जल-कर्मचारी को बुलाकर वह जल उसे दिया और हिदायत कर दी—महाराज जब भोजन करें तो उन्हें पीने के लिए यह जल देना।

प्रधान के कथनानुसार महाराज को वही जल पीने के लिए दिया गया। जब उन्होंने वह जल पिया तो सदा की अपेक्षा वह अधिक शीतल और स्वादिष्ट प्रतीत हुआ। तब राजा ने अपने नौकर से पूछा—अरे, यह जल कहां से लाया है ?

नौकर बोला-महाराज, मुझे तो कुछ मालूम नहीं है, दीवान साहब ने आपके लिए भिजवाया है।

यथासमय दीवान के आने पर राजा ने पूछा—क्यों दीवान ! तुम क्या सदा ऐसा ही पानी पीते हो ? और हमारे लिए आज ही भेजा ?

दीवान ने हाथ जोड़ कर कहा-अन्नदाता, अपराध क्षमा करें तो निवेदन करूँ।

राजा-कहो, कहो, तुम्हारे सौ अपराध माफ हैं।

दीवान-अन्नदाता, यह उसी खाई का पानी है, जो आपको अमनोज्ञ प्रतीत हुआ था और जिसके स्वादिष्ट हो सकने पर आपने विश्वास नहीं किया था।

दीवान का कथन सुनकर राजा के आश्चर्य की सीमा न रही। उसे दीवान के प्रति विशेष आदरबुद्धि उत्पन्न हुई। अवसर पाकर दीवान ने वीतरागप्ररूपित धर्म राजा को समझाया। उसे प्रतिबोध की प्राप्ति हुई और उसकी असत्श्रद्धा दूर हो गई।

भाइयो! राजा अधर्म का श्रद्धालु था, धर्ममार्ग से प्रतिकूल व्यवहार करता था, किन्तु धर्मनिष्ठ दीवान के संसर्ग से धर्म के मार्ग पर आ गया। आप लोग गृहस्थावस्था में हैं तो पाप तो होंगे ही, मगर सत्संगति के द्वारा धर्म की साधना कर सकते हैं। सत्संगति से विचारों की शुद्धि होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है, शुभ कर्मों के लिए चित्त को प्रेरणा मिलती है, गंदे विचार दूर होते हैं और समय का अच्छे से अच्छा उपयोग होता है। अतएव अधिक से अधिक समय सत्संगति में व्यतीत करना प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

इस अध्ययन की सारशिक्षा यह है कि मनुष्य को संसार

के पदार्थों में मनोज्ञत्व और अमनोज्ञत्व की कल्पना करके राग-द्वेष नहीं धारण करना चाहिए। पौद्गलिक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थिर हैं। स्वभावतः वे न मनोज्ञ होते हैं और न अमनोज्ञ ही। मनुष्य राग-द्वेष के वशीभूत होकर इनमें से किसी को इष्ट और किसी को अनिष्ट समझ लेता है। इससे कर्मबन्ध होता है। अतएव समभाव धारण करना ही उचित है।

जरा विचार तो करो कि जगत् में कौन सा पौद्गलिक पदार्थ अच्छा और कौन सा बुरा है? जो आज अच्छा लगता है, वही कल खराब जान पड़ने लगता है और परिस्थिति बदलने पर खराब भी अच्छा प्रतीत होने लगता है। आज जिस स्थान को देखकर घृणा से मन परिपूर्ण हो जाता है, उसी स्थान पर जब कोई भव्य भवन निर्मित हो जाता है तो वही देव-रमण-सा प्रतीत होने लगता है। आपके उत्तम से उत्तम स्वादिष्ठ भोजन किया, चांदी के वर्कों से सुशोभित बादाम की चक्की खाई, और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक, मुक्त कंठ से सराहना करते हुए खाई; परन्तु उसका परिणमन किस रूप में हुआ? वह मल-मूत्रादि के रूप में परिणत हुई और वही मल-मूत्र जब खाद के रूप में खेत में डाल दिया गया तो उससे अनाज की उपज हो गई।

भाइयो! राग-द्वेष करने बैठोगे तो किस २ पर करोगे? अच्छा बुरा और बुरा अच्छा हो जाता है। ऐसी स्थिति में क्यों राग-द्वेष करके कर्म बांधते हो? समता भाव रक्खो। उसी से

आत्मा का कल्याण होगा। उसी से इस जीवन में भी शान्ति मिलेगी। उद्वेग और क्षोभ जैसी अशान्तिकर भावनाओं का शमन होगा। अतएव जैसे सुबुद्धि प्रधान ने राजा जिनशत्रु को समझाया था, उसी प्रकार आप भी दूसरों को समझाओ और अपारमार्थिक दृष्टि का परित्याग करके पारमार्थिक दृष्टि को अपनाओ।

तेरहवें अध्ययन में नन्दन मणियार का प्ररूपण किया गया है। वह राजगृही नगरी का निवासी धनाढ्य वणिक् था। एकबार राजगृह में श्रमण भगवान् महावीर पधारे। नन्दन मणियार धर्मकथा श्रवण करने गया और भगवान् की वाणी सुनकर श्रावक बन गया।

किसी समय नन्दन सेठ ने पौषध किया और तप-आराधना में लीन हो गया, परन्तु अत्यधिक गर्मी के कारण उसे प्यास लग गई। वह प्यास के कारण व्याकुल हो गया। ऐसी परिस्थिति में उसने विचार किया—नगरी के बाहर जो आम रास्ता है और जिस पर सैकड़ों पथिक आते-जाते हैं, उसके सन्निकट महाराज श्रेणिक से भूमि खरीद कर एक बावड़ी बनवाना चाहिए। इससे पथिकों को खास तौर पर गर्मी के मौसिम में आराम मिलेगा। इस प्रकार विचार करते-करते उसे नींद आ गई। प्रातःकाल उसने व्रत का पारण किया और अपने घर चला गया। तत्पश्चात् पारणा आदि से निवृत्त होकर सीधा राजा श्रेणिक के पास पहुंचा। राजा की सेवा में बहुमूल्य भेंट अर्पित करके उसने निवेदन किया—

राजन् ! मैं नगरी के बाहर अमुक स्थल पर एक बावड़ी बनवाना चाहता हूँ। उसके लिए भूमि की आवश्यकता है। कृपया भूमि प्रदान कर कृतार्थ कीजिए।

राजा श्रेणिक ने नन्दन मणियार का प्रस्ताव सुना और प्रसन्न भाव से जमीन दे दी। तब नन्दन मणियार ने वहां एक सुन्दर बावड़ी बनवाई और उसकी चारों दिशाओं में चार बंगले बनवाए। बावड़ी में पानी मीठा और ठंडा निकला। बंगलों में उसने पथिकों एवं आगन्तुकों के लिए भोजन, औषध, शृङ्गार आदि की सुन्दर व्यवस्था कर दी। मगर नन्दन मणियार उस बावड़ी में अतीव गृद्ध हो गया। अपनी प्रशंसा सुन कर परम संतोष और हर्ष का अनुभव करने लगा।

भगवान् महावीर का बार-बार आगमन न होने से वह मिथ्यात्वियों की संगति में फँस गया और धर्मक्रिया में शिथिल हो गया।

एक बार उसके शरीर में सोलह बड़े-बड़े रोग उत्पन्न हो गए। बड़े-बड़े चिकित्सकों का इलाज भी कारगर न हुआ और वह रोगों से मुक्त न हो सका। अन्तिम समय में अपने पापों की आलोचना किये बिना ही उसकी मृत्यु हो गई और बावड़ी में गृद्धि होने के कारण वह उसी बावड़ी में मेंढक के रूप में उत्पन्न हुआ।

मेंढक वावड़ी में किलोलें करता और अपनी तारीफ सुनता हुआ समय व्यतीत करने लगा।

कालान्तर में भगवान् महावीर का पुनः राजगृही में पदार्पण हुआ। वावड़ी पर आए लोगों के मुख से उसने भी भगवान् के पधारने का समाचार सुना। विचार करते-करते उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। तब उसने अपने पूर्वभव को जान लिया कि मैं भी भगवान् का श्रावक था, परन्तु इस वावड़ी में आसक्ति होने के कारण इसी वावड़ी में मेंढक के रूप में जन्मा हूं।

इस प्रकार विचार करने पर मेंढक को खेद हुआ और उसने पुनः भगवान् की परोक्ष साक्षी से श्रावक के व्रतों को अंगीकार कर लिया। वह वेले-वेले का तप भी करने लगा। पारणा के दिन उसने निश्चय कर लिया कि जब तक मैं भगवान् महावीर के दर्शन नहीं कर लूँगा और भगवान् की वाणी मेरे कानों में नहीं पड़ जाएगी, तब तक पारणा नहीं करूँगा।

इस प्रकार संकल्प करके मेंढक वावड़ी से बाहर निकला और जिस दिशा में दूसरे लोग जा रहे थे, उसी दिशा में वह भी चल दिया।

उधर राजा श्रेणिक भी अपने सैनिकों के साथ भगवान् के दर्शनार्थ जा रहे थे। सवारी राजपथ पर चल रही थी। उस राजपथ को मेंढक पार करने लगा, परन्तु ज्यों ही वह राजपथ के

बीच आया, घोड़े की टाप से कुचल गया। कुचल जाने पर वह एक किनारे किसी तरह पहुंचा और संथारा करके, शुभ परिणाम के साथ मर कर देव हुआ।

प्रत्येक देव को अवधिज्ञान होता है, तदनुसार इस दर्दुर देव को भी अवधिज्ञान हुआ। उसने जान लिया कि किस प्रकार मैं भगवान् के दर्शन के लिए जा रहा था और किस प्रकार घोड़े के पैर के नीचे दबकर मरा और देव के रूप में उत्पन्न हुआ। हूं! तो मेरा जो संकल्प पिछले भव में अपूर्ण रह गया है, उसे इस भव में पूर्ण करना चाहिए।

इस प्रकार विचार कर उसने अपने अधीनस्थ एक देव को भगवान् महावीर के समवसरण में भेजा और निवेदन करवाया कि दर्दुर देव आपके दर्शनार्थ आ रहा है। इसके पश्चात् उसने एक लाख योजन के विमान की विक्रिया की और उसमें बैठकर वह भगवान् का दर्शन करने आया। भगवान् के दर्शन करने और धर्मोपदेश को श्रवण करके उसने भगवान् के समक्ष निवेदन किया—भगवन्! आप तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, पर अन्य श्रमणादि को मैं बत्तीस प्रकार का नाटक दिखलाना चाहता हूं।

देव का कथन सुनकर भगवान् मौन रहे।

भाइयो! किसी भी सांसारिक कार्य के विषय में साधु अपनी अनुमति नहीं देते। अतएव आपको अपने कार्य हमारे ऊपर नहीं थोपने चाहिए। आप जो करते हैं, अपने लिए करते

हैं। हम अपना कोई कार्य आपसे नहीं करवाते। जो काम मिश्र होता है, उसके विषय में भगवान् भी मौन धारण करते हैं।

हां, तो दर्दुर देव ने उस परिषद् के समक्ष बत्तीस प्रकार के नाटक दिखलाए।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् नाटक के विषय में मौन क्यों रहे? उन्होंने स्पष्ट रूप से इंकार क्यों नहीं कर दिया? इसका उत्तर यह है कि लोगों में आस्तिकता का भाव जागृत करने का यह भी एक साधन था, अतएव भगवान् ने इंकार नहीं किया। मगर आरम्भ का कार्य होने से उन्होंने उसकी स्वीकृति नहीं दी और वे मौन ही रहे।

दर्दुर देव ने अपने बाएँ हाथ से एक सौ आठ कुमारिकाएँ और दाहिने हाथ से एक सौ आठ कुमार निकाले—उनकी विक्रिया की। उन कुमारों और कुमारिकाओं ने बत्तीस प्रकार की अद्भुत नाट्यविधि प्रदर्शित की। इन नाट्यविधियों का नामोल्लेख राजप्रश्नीय सूत्र में उपलब्ध होता है। नाट्यविधि प्रदर्शित करने के पश्चात् दर्दुर देव ने अपनी विक्रिया समेट ली। अन्त में भगवान् महावीर को प्रणाम करके वह अपने स्थान पर चला गया।

देव के चले जाने पर गौतम स्वामी ने दर्दुर देव के जीवन-वृत्तान्त के विषय में प्रश्न किया तो भगवान् ने वही सब

वृत्तान्त बतलाया, जिसका जिक्र अभी किया जा चुका है। अन्त में फर्माया कि वह देव एक भव करके मुक्ति प्राप्त करेगा।

इस अध्ययन का सार यही है कि मनुष्य को किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। आसक्ति दुःख और भव-भ्रमण का कारण है।

चौदहवें अध्ययन में तेतली पुत्र प्रधान का वर्णन किया गया है। कनकध्वज राजा का मंत्री तेतलीपुत्र था। एक बार वह घोड़े पर सवार होकर अपने आदमियों के साथ हवाखोरी के लिए जा रहा था। जाते-जाते उसने एक स्वर्णकार की कन्या को गेंद खेलते देखा। ज्यों ही मंत्री की दृष्टि उस पर पड़ी, वह एकदम मुग्ध हो गया। उसने अपने विश्वस्त कर्मचारियों को लड़की की मँगनी करने के लिए भेजा और कह दिया कि लड़की के बदले वह जो शुल्क मांगे, उसे देने की स्वीकृति दे देना।

कर्मचारी स्वर्णकार के घर पहुंचे। उन्होंने कहा-हमारे प्रधानजी ने अपने लिए आपकी कन्या की याचना की है। यह सम्बन्ध हो जाएगा तो राजघराने से आपका सम्पर्क बन जाएगा। अगर आप इस सम्बन्ध को उचित समझते हों तो स्वीकृति प्रदान कीजिए।

स्वर्णकार ने उत्तर दिया-भाइयो ! आप लोगों का कहना तो उचित है। प्रधानजी मेरे जामाता बनें, यह मेरे लिए सौभाग्य

की बात है। मैं इस सम्बन्ध से सहमत हूं मगर जिसका असल में सम्बन्ध होना है, उसकी भी सम्मति लेना उचित है। यदि कन्या ने यह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया तो मेरी ओर से कोई रुकावट नहीं है।

तब प्रधान के कर्मचारियों ने कहा—यथार्थ है, उचित है। आप कन्या से पूछ कर उत्तर दीजिए।

स्वर्णकार अपनी लड़की के पास गया। उसने सब वृत्तान्त बतला कर उसकी अनुमति मांगी।

लड़की ने कहा-पिताजी, यदि प्रधान मेरी बात को न टालें तो मुझे यह सम्बन्ध स्वीकार है।

प्रधान के कर्मचारियों ने प्रधान की राय लेकर कह दिया-प्रधानजी आपकी लड़की की कोई बात नहीं टालेंगे।

आखिर विवाह हो गया और स्वर्णकार की लड़की के कथनानुसार प्रधान वर्त्ताव करने लगा। एक बार किसी व्यक्ति ने ईर्षा से प्रेरित हो कर राजा से कह दिया—महाराज! आपका प्रधान तो अपनी पत्नी का भक्त है। वह अपनी पत्नी के इशारों पर नाचता है।

राजा कान के कच्चे होते हैं। जिसने जैसी फूंक मार दी, बस वैसा ही समझ बैठे। एक दिन प्रधान राजा के यहां जाने लगा तो पत्नी ने कहा-आज जरा जल्दी आ जाना! प्रधान हां

भर कर रवाना हो गया। जब आवश्यक काम-काज निपट गया तो उसने महाराज से कहा—महाराज, अब मैं जा रहा हूं। राजा को मालूम हो गया था कि यह स्त्री का गुलाम बन रहा है, अतएव राजा ने उसे जानबूझ कर काम का बहाना करके कुछ समय तक और रोक लिया। राजा की आज्ञा होने पर उसे विना मन, विवश होकर रुकना ही पड़ा। ज्यों-त्यों वह काम पूरा करके वह पुनः जाने को तैयार हुआ तो राजा ने फिर बहाना बना कर रोक लिया। इस प्रकार स्त्री की आज्ञा के अनुसार उसे जिस समय घर लौटना था, वह समय निकल गया। वह घर नहीं पहुंच सका।

स्त्री उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। प्रधान जब बहुत विलम्ब से पहुँचा तो स्त्री ने कोपाविष्ट होकर कहा—क्या यही आपका वचन-पालन है ? यदि वचन का निर्वाह नहीं किया जा सकता तो वचन देने की आवश्यकता ही क्या है।

प्रधान ने स्त्री के मुख से यह बात सुनी तो उसे भी क्रोध आ गया और उत्तर देते हुए वह बोला—क्या किया जाय। राजकाज जो ठहरा। मैंने आने का प्रयत्न किया, पर राजा ने दो बार रोक लिया। रुकना ही पड़ा। इतने पर भी यदि तुम मुझे वचन-चूका समझती हो तो समझा करो और जो मर्जी हो सो करो।

बात कुछ आगे बढ़ी। गर्मी आई। दोनों के दिलों में उत्तेजना पैदा हो गई। धीरे धीरे दिल फटते गए, दरार बढ़ती

गई। लहराता हुआ प्रेम का पौधा मुरझाने लगा और सूखने लगा।
एक कवि कहता है-

पहले हेत बिगाड़ के, पीछो मांडे हेत।
तुलसी ऐसे मीत के; मुंडे दीजे रेत॥

तो तेतलीपुत्र और उसकी पत्नी के बीच जो मनमुटाव उत्पन्न हुआ, वह मिट नहीं सका, बल्कि दिनों दिन बढ़ता ही गया। समय व्यतीत होने लगा और कशमकश भी बढ़ती ही चली गई। प्रधान अपनी पत्नी से विमुख हो गया।

एक बार उस नगर में महासतियों का पधारना हुआ। एक दिन वे दीवान के घर भिक्षा लेने के लिए गई तो सुनार की लड़की ने उनसे कहा-महासतीजी, आप देश-विदेश में भ्रमण करती हैं। बहुत कुछ देखती, पढ़ती, सुनती और जानती हैं। कृपा कर मेरा उद्धार कीजिए।

महासती ने कहा-क्या है बहिन? ऐसा क्यों कह रही हो? तुम्हें क्या कष्ट है?

वह बोली-मेरे पति मेरे वश में नहीं हैं। वह आंख उठा कर भी मेरी ओर नहीं देखते। मेरा दाम्पत्य जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है। ऐसा कोई मंत्र-तंत्र बतलाइए, जिससे मैं अपने पति को वशीभूत कर सकूं।

महासती ने यह सुन कर अपने कान बन्द कर लिए और

कहा—भाई, इस प्रकार की कथा सुनना भी हमें नहीं कल्पता। हम धर्म का उपदेश करती हैं। सांसारिक बातों से हमारा कोई सरोकार नहीं है। अगर तुम्हारे पति ने तुम्हारी ओर से दिल खींच लिया है तो संयमधर्म का पालन करो, परभव को सुधारो। इससे तुम्हें इस जीवन में भी शान्तिलाभ होगा।

सुनार की लड़की, जिसका नाम पोहिला था, महासती की बातों से प्रभावित हुई। उसने अपने पति से साध्वी बनने की आज्ञा मांगी। तब उसने कहा—एक शर्त पर मैं तुम्हें साध्वी बनने की अनुमति दे सकता हूँ।

'क्या है वह शर्त ?'

साध्वी बन कर तपस्या के प्रभाव से तुम देवता बन जाओ तो यहां आकर मुझे धर्म में दृढ़ करना।

पोहिला ने यह शर्त स्वीकार कर ली और तेतली पुत्र ने उसे साध्वी होने की अनुमति दे दी। तत्पश्चात् प्रधान ने दीक्षा-महोत्सव किया और उसकी पत्नी ने साध्वीधर्म अंगीकार कर लिया।

पोहिला संयम पाल कर यथासमय काल करके देवता बन गई। जब वह देवलोक में उत्पन्न हुई तो उसने अपने पूर्ववृत्तान्त का स्मरण किया। उससे मालूम हुआ कि मैं तेतलीपुत्र प्रधान को वचन देकर आई हूं। उस वचन का पालन करना मेरा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार विचार कर वह तेतलीपुत्र प्रधान के निकट आई। उसने प्रधान को धर्म में दृढ़ करने के लिए बहुत प्रयत्न किया, खूब समझाया, पर प्रधान पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसे कनकध्वज राजा की ओर से खूब आदर मिल रहा था और किसी प्रकार का अभाव न था। कनकध्वज का पिता कनक-केतु राजा राज्य में अत्यन्त ही गृद्ध था। उसके यहां जितने भी पुत्र जन्मे, उसने सब को विकलांग कर दिया, जिससे वे राज्य के अधिकारी न हो सकें और वह निष्कंटक राज्य कर सके। परन्तु उसकी रानी—कनकध्वज की माता ने विचार किया—मानव मात्र की मृत्यु अनिवार्य है। जिसने जन्म लिया है, उसे एक दिन अवश्य ही मरना पड़ेगा। राजा भी अमर नहीं हैं। उस समय इस राज्य का स्वामी कौन होगा?

इस प्रकार विचार कर उसने अपने गर्भ को गुप्त रक्खा और जब पुत्र का जन्म हुआ तो तेतलीपुत्र को बुलाकर गुप्त रूप से उसे उसके यहां भेज दिया। जब राजा की मृत्यु हुई तो उत्तराधिकारी की समस्या सामने आई। तब महारानी ने सारा भेद खोला और प्रधान के घर से कनकध्वज को बुलाकर सिंहासन पर आसीन किया। कनकध्वज राजा बन कर जब अपनी माता को प्रणाम करने गया तो माता ने कहा पुत्र! तेतलीप्रधान ने तुम्हारा पालन-पोषण किया है; अतएव उसको आदर देना।

माता की आज्ञा के अनुसार राजा प्रधान का हार्दिक

सम्मान करने लगा। जब प्रधान आता तो राजा सिंहासन से उठ कर सत्कार करता और उसी के निर्देशानुसार राजकाज चलाता था।

इन्हीं दिनों देवता उसे प्रतिबोध देने आया। मगर जब प्रधान को प्रतिबोध न हुआ तो देवता ने विचार किया–राजा की ओर से मिलने वाला सम्मान-सत्कार ही इसके प्रतिबोध में प्रधान बाधा है। इस बाधा को दूर किये बिना काम नहीं चलेगा। अगर राजा की ओर से प्रधान का अपमान हो जाय तो यह अवश्य समझ जाएगा।

भाइयो ! साधु बनने के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि यदि किसी का निरादर हो जाता है तो वह उससे प्रभावित होकर साधु बन जाता है।

एक दिन प्रधान स्नानादि से निवृत्त होकर जब राजसभा में जाने लगा तो घर वालों ने सदा की भांति आदर किया, बाजार में होकर निकला तो बाजार वालों ने आदर किया, महल में पहुँचा तो द्वारपालों ने आदर किया, मगर देवता ने राजा का मन बिगाड़ दिया। ज्यों ही वह राजा के निकट पहुंचा, राजा ने घृणापूर्वक मुँह फेर लिया। प्रधान के लिए यह अभिनव अनुभव था। उसे गहरा आघात लगा। अपमानित हो कर वह वहां ठहर नहीं सका और उलटे पैरों वापिस लौट पड़ा। जब वह महल से बाहर निकला तो द्वारपाल ने भी आदर नहीं किया। जब वापिस बाजार

में होकर निकला तो वहां भी किसी ने सत्कार नहीं किया। प्रधान का मन कसक रहा था। मगर करता क्या? नीचा मुँह किये शीघ्रगति से वह अपने घर आ गया। किन्तु जब उसने देखा कि घर में भी कोई उसका आदर-सत्कार नहीं कर रहा है और नौकर-चाकर भी उससे विमुख हो रहे हैं तो उसके दुःख और उद्वेग की सीमा न रही। वह समझ ही न सका कि आखिर सहसा इतना परिवर्त्तन कैसे हो गया है। और तो और, घर वाले भी मेरा अपमान कर रहे हैं। अपनी विचित्र और अननुभूतपूर्व स्थिति देख कर उसने सोचा—इस प्रकार घर और बाहर अपमानित होने की अपेक्षा तो मृत्यु का आलिंगन करना ही श्रेयस्कर है। और सचमुच ही प्रधान ने प्राणों का परित्याग कर देने का निश्चय कर लिया।

वह एकान्त में गया और अपने गले में फांसी का फंदा लगा कर झूल गया। मगर दैवयोग से रस्सी टूट गई और वह मर न सका। तत्पश्चात् ऊपर से गिर कर मरने का प्रयत्न किया, मगर वह भी वृथा हो गया। अथाह पानी में कूदा तो पानी छिछला हो गया। शस्त्र का आघात किया तो वह भी भोटे हो गए। आखिर उसने अग्नि में प्रवेश करने के लिए चिता जलाई, किन्तु आश्चर्य कि वह भी शान्त हो गई। इस प्रकार जल, अग्नि, शस्त्र, विष आदि सब बेकार साबित हुए। प्रधान किं कर्त्तव्यमूढ़ हो गया। उसके सामने घोर अन्धकार था और कहीं से कोई

कहने लगी—आप सोचते होंगे कि मैं आपको देवी के मन्दिर में धोखा दे कर छोड़ आई। मगर ऐसा न सोचें। मेरा वृत्तान्त सुनेंगे तो आप मुझे निर्दोष ही समझेंगे। मैं ऐसी कठोर और कृतघ्न नहीं हूँ। मेरे सिर पर भी भगवान् हैं।

वेश्या ने आगे कहा—बात यों हुई कि जब आप पूजा करने के लिए मन्दिर के अन्दर चले गए और मैं आपकी पांवड़ियों की रक्षा करती बाहर बैठी थी तो अचानक एक पुरुष आ धमका। बाद में मालूम हुआ कि वह विद्याधर था। उसे अपनी ओर आते देख कर मुझे शंका हुई कि यह पुरुष कहीं पांवड़ियां उठा कर न चल दे और हम आपद में न पड़ जाएँ, अतएव मैंने पांवड़ियों को अपनी गोद में छिपा लिया। मगर वह तो उन्हीं के लिए आया था। मुझ अबला को अकेली देख कर उसका साहस बढ़ गया और निर्भय होकर वह मेरे निकट आ गया। उसने पांवड़ियों को मुझसे छीन लिया, मगर मैंने उसका पीछा न छोड़ा। उसने बहुत प्रयत्न किया, फिर भी मैं उसे पकड़े रही। उसने अपने आपको छुड़ाने के लिए पूरा जोर लगाया, पर मैं उसे कब छोड़ने वाली थी? मैं जौंक की तरह चिपटी रही। इस प्रकार वह रवाना हो गया और मैं भी उसके साथ-साथ खिंचती चली गई। वह दुष्ट जब सिंहलपुर के पास आया तो उसने मेरे कपड़े फाड़ डाले और धक्का देकर मुझे नीचे गिरा दिया। इस प्रकार मेरी दुर्दशा करके

वह चला गया। भगवान् की सौगंद खाकर कहती हूं कि मैंने एक भी बात मिथ्या नहीं कही है।

भाइयो! यह सौगंद और शपथ झूठों का एक बड़ा हथियार है। लोग अकसर अपने झूठ पर मुलम्मा पोतने के लिए शपथ खाते हैं। सच्चे को शपथ खाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मगर जिसने अपनी पैठ खत्म कर दी है; सौ-सौ सौगंद खाने पर भी उसकी बात पर भरोसा नहीं किया जाता।

अन्त में वेश्या ने कहा-प्राणनाथ! अब उठो और घर चलो। दूसरों के यहां कब तक बैठे रहोगे? इस प्रकार बैठने से कैसे काम चलेगा?

वेश्या की सफाई सुन कर अमरसेन का चित्त कुछ द्रवित हुआ। रागान्ध हुए मूढ जन अपनी विचारशक्ति गंवा बैठते हैं। अमरसेन भी रागवश होकर वास्तविकता को न समझ सका। उसने सोचा-संभव है कि वेश्या ठीक कह रही हो। असंभव घटना तो है नहीं। और फिर मेरे लिए दूसरा कोई ठिकाना भी तो नहीं है। अन्यत्र जाऊँ तो जाऊँ कहां। चलो, इसी के आग्रह को स्वीकार कर लूँ। तात्कालिक समस्या तो हल हो ही जाएगी।

इस प्रकार सोच कर अमरसेन वेश्या के साथ उसके घर चला गया और पहले की भांति ऐश-आराम में समय व्यतीत करने लगा। जब अमरसेन का वेश्या पर विश्वास जम गया तो

वेश्या ने अपने मतलब की बात सोची। मन ही मन वह विचार करने लगी—पहले इससे गुठली ले चुकी हूं और फिर पांवड़ियां भी हथिया ली हैं। अब मालूम करना चाहिए कि इसके पास क्या है ? संभव है फिर कोई चमत्कारी चीज हाथ लग जाए। इस प्रकार सोच-विचार कर उसने कहा—नाथ ! इस गठड़ी में क्या है, यह बात तो आपने बतलाई ही नहीं। एक मैं हूं जो अपना सर्वस्व यहां तक कि शरीर भी, आपको समर्पित कर चुकी हूं और एक आप हैं जो गठड़ी को भी मुझसे छिपा रहे हैं। आप इतना कपट करते हैं मुझ से। कुछ भेद ही नहीं देते। आखिर बतलाइए तो सही कि आप मेरे लिए क्या सौगात लाए हैं ?

अमरसेन एकदम बुद्धू नहीं था। वह समझ गया कि यह धूर्त्ता मेरा भेद लेकर फिर मुझे धोखा देना चाहती है। इसने मेरे साथ अब तक जो कपटपूर्ण व्यवहार किया है और मुझे धोखा देकर संकट में डाला है, उसका बदला लेने का और सदा के लिए शिक्षा देने का यह बहुत उत्तम अवसर है। कहावत है—सौ दिन चोर के तो एक दिन साहूकार का भी आ जाता है। इसे ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि जीवन भर याद रक्खे और किसी दूसरे के साथ छल न कर सके।

भाइयो ! जो दूसरों का अनिष्ट करने का पाप करता है, वह स्वयं अपने पाप का शिकार हो जाता है। किसी ने ठीक ही कहा है—

राम किसी को मारे नहीं, मारे सो नहिं राम।
आपो आप मर जाएगा, कर कर खोटे काम ॥

भाइयो ! कोई मर जाता है तो लोग कहते हैं—रामजी बहुत खोटी करी।' परन्तु राम किसी को मारते नहीं हैं। पापी लोग खोटे कर्म करके अपने पापों से आप ही मर कर दुर्गति के पात्र बनते हैं। कोई व्यक्ति कितना ही सम्पन्न, सामर्थ्यशाली और सत्ताधीश क्यों न हो, उसके पाप उसे नष्ट कर ही देते हैं। पापों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं मिल सकता।

मगर प्रकट में अमरसेन बोला-इतनी उतावली की क्या बात है सुन्दरी ! मुझे इतने दिनों तक याद ही नहीं आया कि मैं तुम्हारे लिए कुछ सौगात लाया हूं। अब मैं तुम्हें वह अद्भुत वस्तु बतलाऊँगा। इस प्रकार कह कर अमरसेन ने अपनी पोटली खोली और कहा-सुन्दरी ! देखो, मैं तुम्हारे लिए यह बहुमूल्य फूल लाया हूँ। यह फूल देवी ने प्रसन्न हो कर मुझे दिया है।

यद्यपि अमरसेन जानता था कि इस फूल को सूंघने से यह वेश्या गधी बन जाएगी, परन्तु उसने यह तथ्य प्रकट नहीं होने दिया। वह फूल की प्रशंसा करता हुआ कहने लगा-इस फूल को जो सूंघ लेता है, उसे कभी बुढ़ापा नहीं आता। उसके शरीर का लावण्य एकदम बढ़ जाता है और वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

इस बात को सुन कर वेश्या को मानों कुबेर का खजाना मिल गया। उसके चित्त में आनन्द की हिलोरें उठने लगीं। उसने मन ही मन सोचा-इस बार भी यह बड़ी उपयोगी और गुणकारी चीज लाया है। अगर मेरा यौवन और सौन्दर्य स्थिर हो जाय तो धरती पर ही मेरे लिए स्वर्ग उतर आएगा। किसी उपाय से इससे यह फूल हथिया लेना चाहिए।

इस प्रकार सोच कर और फूल की ओर ललचाई आंखों से देख कर वेश्या ने कहा-नाथ! आप मेरे लिए चीज तो बढ़िया लाए हैं। आज्ञा हो तो सूंघ लूँ।

वेश्या ने इस प्रकार कहा तो अमरसेन मन ही मन प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ। समझदारी से काम लेकर उसने कहा-देखो, तुम एकान्त में जाकर इसे सूंघो, मेरे सामने नहीं। एकान्त में सूंघ कर जब तुम मेरे पास आओगी तो तुम्हारी अपूर्व सुन्दरता देख कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी।

वेश्या को इसमें कोई ऐतराज नहीं था। वह तत्काल उठ कर एकान्त में चली गई। वहां जाकर फूल सूंघा और सूंघते ही वेश्या से गधेड़ी बन गई।

वेश्या को अपने किए का फल मिल गया। वह ढेंचूं-ढेंचूं करती हुई अपने मकान के पास आई तो अमरसेन ने उसे डंडा लेकर पीटना प्रारम्भ किया। गधेड़ी घर में घुसने की कोशिश

करने लगी, अमरसेन ने पीट-पीट कर बाहर निकाल दिया। पीटते-पीटते वह उसे बाजार तक ले गया और वहां भी सब के सामने पीटने लगा। अधिक मार पड़ने से गधी के शरीर में जगह-जगह खून निकल गया।

यह बात दूसरी वेश्याओं को मालूम हुई तो आपस में मिल कर वह कहने लगीं—अमरसेन कोई बड़ा जादूगर जान पड़ता है। इसने नगर की सब से बडी वेश्या को गधी बना दिया है और ऊपर से उसे पीट भी रहा है! इस घटना से हम सब की इज्जत बिगड़ी है। हमारा कर्त्तव्य है कि राजसभा में जाकर फरियाद करें और उसकी रक्षा के लिए प्रार्थना करें।

इस प्रकार का निश्चय करके मुख्य-मुख्य वेश्याएँ मिल कर महाराज वीरसेन के दरबार में पहुँची। कहने लगीं-महाराज! दुहाई है! बड़ा गजब हो गया है!

महाराज ने पूछा कुछ कहो भी, क्या गजब हुआ? क्या फरियाद लेकर आई हो?

वेश्याएँ कहने लगीं-अन्नदाता! हम आपके नगर में रह रही हैं और हमें किसी प्रकार का दुःख नहीं था। पर न जाने कहां से एक परदेशी आया हुआ है। वह एक कुशल जादूगर जान पड़ता है। उसने अपने जादू के जोर से हमारी एक बहिन-वेश्या-को गधी बना दिया है और मार-मार कर घर से निकाल दिया

है। उसकी हिमाकत इतनी बढ़ गई है कि उसने भरे बाजार में उसे पीटा और लहूलुहान कर दिया है। अन्नदाता से प्रार्थना है कि अपराधी को उचित दंड दिया जाय और उस वेश्या को पुनः पूर्वरूप में करवा दिया जाय। अगर ऐसा न हुआ तो हमारी प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगेगा और यह पेशा ही उठ जाएगा।

महाराज वीरसेन ने कोतवाल को बुलवा कर कहा-देखो कोतवाल, यह वेश्याएँ आई हैं और इनकी फरियाद है कि किसीने एक वेश्या को गधी बना दिया और कठोरता से पीटा-मारा है। वह उसे सता रहा है। उसकी हालत बहुत बुरी कर दी है। इसका पता लगाओ और उस पुरुष को पकड़ कर मेरे सामने उपस्थित करो।

महाराज का आदेश पाकर कोतवाल सिपाहियों को साथ लेकर वेश्याओं के साथ रवाना हुआ। बाजार में पहुँच कर कोतवाल ने देखा-बाजार के बीच एक गधी खड़ी है और एक पुरुष उसे पीट रहा है। वह पुरुष भयानक रूप धारण किए है और उसके हाथ में लकड़ी है। लकड़ी देखकर कोतवाल भी एक बार विचार में पड़ गया।

भाइयों! लकड़ी में बहुत गुण हैं। उसे देख कर कुत्ता पास में नहीं आता और कदाचित् पानी में चलना पड़े तो उससे पानी की गहराई का पता चलता रहता है और मनुष्य डूबने से

बच जाता है, अंधेरे में गड्ढे में गिरा ने से बचाती है। निर्भयता प्रदान करती है। नीतिकार लकड़ी के विषय में कहते हैं:—

एक गंठी लकड़ी भली, दो गंठी दुखदाय।
तीन गंठी सुख-सम्पदा, चउ गंठी मरण थाय ॥ १ ॥
पंच गंठी पथ-भय हरे, छह गंठी भय जोय।
सप्त गंठी नीरोगता, अष्ट गंठी सिद्ध होय ॥ २ ॥
नौ गंठी लाठी सुयश, दश गंठी दे सिद्ध !
चार अंगुल ज्यों दो ग्रहे, ते लाठी नृपसिद्ध ॥ ३ ॥

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थिसंख्यक लाठियों के गुण-दोष दिखला कर अन्त में कहा गया है कि—दस गांठों से चार अंगुल ज्यादा की लकड़ी रखना सर्वोत्तम है।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र की एक कथा में बतलाया है कि—करकंडू को घर से निकाल दिया गया। जब वह रास्ते में जा रहा था तो उसे एक निमित्तवेत्ता मिल गए। उसने करकंडू को देख कर कहा-तेरी तकदीर अच्छी है। यदि तू दस गांठ से चार अंगुल अधिक लम्बी लकड़ी रक्खेगा तो तेरा गया हुआ राज्य वापिस मिल जाएगा। ऐसा गुण होता है उसमें !

अमरसेन के हाथ में जो डण्डा था, उसमें विशेष गुण यह था कि उसके हाथ में रहते कोई दुश्मन नजदीक भी नहीं फटक सकता था।

कोतवाल ने देखा कि वह पुरुष गधी को मारता ही जा रहा है और रुकने का नाम नहीं लेता तो उसने कहा—अरे भले मानुस ! क्यों मूक प्राणी को इस प्रकार निर्दयता के साथ पीट रहा है ?

कोतवाल की बात सुनकर अमरसेन ने उसे और जोर लगाकर पीटना आरंभ कर दिया। यह देख कोतवाल को अपने पद का खयाल आया, राजकीय मर्यादा का भान हुआ और जोश में आकर उसने कहा—बस, पीटना बंद कर दे; अन्यथा तेरी खैर नहीं है।

अमरसेन पर क्रोध का भूत चढ़ बैठा था। कोतवाल को अपनी ओर आते देखा तो ललकार कर कहने लगा—देखो, गधी की तरह तुम्हें भी मार खानी हो तो सामने आओ। गुस्से में आकर कोतवाल के साथी सिपाही आगे बढ़े तो अमरसेन ने अपने डण्डे को हुक्म दिया—इन्हें भी सँभाल ले, इतना कहते ही डण्डा आगे बढ़ा और उन सिपाहियों को पीटने लगा। सिपाही मार के मारे वापिस लौट गये। यह हाल देखकर कोतवाल सहम गया। सोचा—मालूम होता है, इसका डण्डा देवता से अधिष्ठित है। सामना किया तो मुझे भी मार खानी पड़ेगी और जनसमूह के सामने मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिल जायगी। मैं राजकीय कार्य पर आया हूं और मेरा अपमान शासन

का अपमान है। इसे काबू में लाने के लिए अन्य कोई व्यवस्था सोचनी पड़ेगी।

कोतवाल सिपाहियों को लेकर राजा के पास पहुंचा और बोला--महाराज, वह बहुत जबर्दस्त आदमी है। ऐसा जान पड़ता है कि उसे दैवी सहायता प्राप्त है, वह साधारण तरीके से काबू में नहीं आ सकता। दस-बीस सिपाही उसे नहीं पकड़ सकते। उसके पास दैवी या जादू की लाठी है, हमने उसे पकड़ने की बहुत कोशिश की, मगर सफलता नहीं मिल सकी।

कोतवाल की कैफियत सुनकर राजा वीरसेन बोले-बस, इसी बल-बूते पर शेखी बघारता था कि मैं ऐसा हूँ, वैसा हूं। इसी साहस के बल पर प्रजा की रक्षा करेगा? एक लठैत को भी नहीं पकड़ सका।

दुनियां में बातें बहुत पर काम करने वाले थोड़े होते हैं। कहावत है-'गाजे सो बरसे नहीं और बरसे सो गाजे नहीं।'

आखिर वीरसेन ने कहा-अच्छा रहने दो। देख लिया तुम्हारा पराक्रम। मैं स्वयं जाऊँगा और उस बदमाश को पकड़ कर लाउँगा।

किस प्रकार वीरसेन, अमरसेन को पकड़ने जाएगा और उसे पहचानेगा, यह वृत्तान्त आगे सुनने से ज्ञात होगा।

भाइयों ! आज जो कथानक आपके समक्ष प्रस्तुत किये गये हैं, उन सबके बाह्य स्वरूप से आगे बढ़कर अगर आप उनके हार्द-अन्तस्तत्त्व पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो पाएँगे कि संसार के समस्त संघर्षों का मूल और प्रधान कारण राग-द्वेष ही है। राग-द्वेष के कारण ही प्राणी नाना प्रकार के संकटों में पड़ते हैं, दुःख के पात्र होते हैं, दुर्गति में जाते हैं और अपने वर्त्तमान जीवन को सन्ताप की धधकती हुई भट्ठी में झोंकते हैं, समभाव आत्मा का स्वरूप है और जब तक आत्मा अपने स्वरूप में स्थित और स्थिर नहीं होता, तब तक उसे वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती। इसीसे ज्ञानी जनों का कथन है कि-हे जगत् के जीवो ! विषमभाव का परित्याग करो और समभाव को धारण करो। समभाव के सुधामय सागर में अवगाहन किये बिना न कभी शान्ति मिली है, न मिल सकती है। राग-द्वेष की आग में जलने वाले जीव कदापि शान्ति लाभ नहीं कर सकते। वे स्वयं भी संतप्त होते हैं और अपने सम्पर्क में आने वाले दूसरों को भी संतप्त करते हैं।

विषमभाव राग-द्वेष से उत्पन्न होता है और राग द्वेष विषमभाव से उत्पन्न होते हैं। यह चक्र अनादि काल से चल रहा है और इसी में भटकने वाले मूढ़ जीव नाना प्रकार से दुखी हो रहे हैं। इस चक्र की परिसमाप्ति किस प्रकार हो सकती है ? यह आत्मा किस उपाय से अपने स्वरूप का लाभ कर सकता है ?

किस तरह संताप का शमन हो सकता है ? कैसे अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो सकती है ? इन प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता है। आपको इस समय जो सामग्री मिली है, उसके रहते विचार करना चाहिए। यह सामग्री अत्यन्त मूल्यवान् और दुर्लभ है। मानवभव, अविकल इन्द्रियां और वीतरागवाणी के श्रवण का सुअवसर सहज मिलने वाला नहीं है। इसे पाया है तो रागद्वेष की विषैली परिणति का परित्याग करो और समभाव की साधना के लिए शक्ति-अनुसार प्रयत्न करो। इसीमें आपका कल्याण है।

केन्टोनमेंट बैंगलोर
५-१०-५६

तारिणी तपस्या

भाइयो !

श्रीमत्समवायांगसूत्र के उन्नीसवें समवाय का वर्णन सुनाया जा रहा है। इस सूत्र में श्रीज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों का निर्देश किया गया है। उनका सारभूत निरूपण करते हुए चौदह अध्ययन प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

पन्द्रहवां अध्ययन किम्पाक फल संबंधी है। उसका वर्णन करते हुए शास्त्रकार फर्माते हैं-धन्य नामक सार्थवाह था। वह बहुत-से छोटे-मोटे व्यापारियों को साथ लेकर धनोपार्जन के लिए रवाना हुआ। चलते-चलते उसका सार्थ विश्राम के लिए एक अटवी में रुका। तब उस प्रदेश के अनुभवी सार्थवाह ने सबको सूचना दे दी कि-सार्थ के लोग जब इधर-उधर जाएँ तो किम्पाक नामक फलों के वृक्षों से दूर रहें। वे फल देखने में बहुत सुन्दर हैं, खाने में स्वादिष्ठ हैं और सूंघने में अत्यन्त मनोज्ञ हैं। स्पर्श में कोमल हैं। परन्तु परिणाम में विषाक्त हैं। अगर किसी ने इन्द्रियलोलुपता के वशीभूत होकर उन फलों का भक्षण कर लिया तो उसके जीवित बचने की कोई संभावना नहीं है। अत-

एवं कोई भूल कर भी उन वृक्षों की छाया में भी न जाए। यह सूचना पाकर भी यदि कोई उनके निकट गया और किसी प्रकार का अनिष्ट हो गया तो उसका उत्तरदायित्व मेरा नहीं होगा!

परन्तु भाइयो! कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें बड़ों के वचन की उपेक्षा करने में ही अपने अभिमान की सुरक्षा प्रतीत होती है। उन्हें अन्त में पश्चाताप करना पड़ता है। पर वे पश्चात्ताप करने पर भी अपनी मूर्खता के दंड से मुक्त नहीं हो पाते। सार्थ में भी कुछ लोग इसी श्रेणी के थे। मना करने पर भी वे लोग उन वृक्षों की छाया में ही विश्राम करने गए। जब उनकी थकावट दूर हुई तो भूख उन्हें सताने लगी। हवा चलने के कारण वृक्षों से फल नीचे गिरने लगे और उनका सुन्दर सौरभ बलात् नाक को अपनी ओर आकर्षित करने लगा। वे भूख से पीड़ित थे ही, अपने मन को वश में नहीं कर सके और उन फलों को खाने के लिए ललचाने लगे।

आखिर लालसा की विजय हुई और विवेक परास्त हो गया। उन्होंने फलों का भक्षण किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, फल खाने में स्वादिष्ट थे, परन्तु जैसे ही पेट में पहुँचे कि उन्होंने अपना गुण प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया। अर्थात् विषैले फलों को खा जाने के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

जब वे लोग बहुत समय हो जाने पर भी वापिस न लौटे

तो सार्थ के अधिपति को चिन्ता हुई। तलाश करवाने पर पता चला कि किंपाक फल खाकर वे मरण-शरण हो गए हैं।

इस दृष्टान्त का सार प्रकट करते हुए ज्ञानीजन कहते हैं कि यह संसार अटवी के समान है और काम-भोग किंपाकफल के समान हैं। काम भोग भोगते समय अत्यन्त सरस, सुखद और सुन्दर प्रतीत होते हैं। सार्थवाह के समान वीतराग अरिहन्त भगवान् सार्थियों के समान संसार के जीवों को चेतावनी देते हुए कहते हैं—याद रखना, यह कामभोग किंपाक फल के समान अन्त में घोर विनाश और विपत्ति के हेतु हैं। कहा है—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं॥

उत्तराध्ययन, ६-५३

यह कामभोग शल्य की तरह भीतर ही भीतर निरन्तर पीड़ा पहुँचाते हैं। कामभोग विष और विषधर की तरह मृत्यु के हेतु हैं। विष तो खाने पर ही मौत का कारण होता है, मगर कामभोग तो उससे भी अधिक भयंकर हैं। उनका सेवन न करने पर भी केवल अभिलाषा करने मात्र से वे दुर्गति में ले जाते हैं। और भी कहा है—

जहा किंपाकफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
तहा भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो॥

जैसे किंपाक फलों का रस, रूप, गंध आदि कितना ही मनोहर क्यों न हो, परन्तु परिणाम सुन्दर नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं-यह कामभोग मनुष्य को एक बार नहीं, बार-बार मारते हैं। अतएव जो मौत से बचना चाहता है, अमर पद प्राप्त करना चाहता है, उसे विषय भोगों से अपनी रक्षा करना चाहिए।

जो ज्ञानी पुरुषों का कहना नहीं मानेगा, उसके लिए यह लम्बा-चौड़ा संसार पड़ा है घूमने के लिए। भाइयो ! ज्ञानी पुरुषों की चेतावनी होने पर भी दुनिया इन किंपाक फलों को खाती जा रही है और जब खाती जा रही है तो मौत का शिकार भी बनती जा रही है। जो इन फलों से दूर रहेंगे, उनकी आत्मा की रक्षा होगी। यही इस अध्ययन का सारांश है।

सोलहवें अध्ययन में बतलाया गया है-धातकी खण्ड में अमरकंका नामक राजधानी थी। वहां पद्मनाभ नामक राजा राज्य करता था। उसके अन्तःपुर में सात सौ रानियां थीं। एक बार घूमते-घामते कच्छुल्ल नामक नारद उसके अन्तःपुर में जा पहुंचे। ज्यों ही नारदजी पहुँचे, राजा ने उनका हृदय से स्वागत किया। वार्त्तालाप के दौरान राजा ने नारदजी से कहा-महात्मन् ! आप

सब जगह घूमते हैं और राजाओं के अन्तःपुर में भी जाते रहते हैं; कहीं आपने मेरे जैसे अन्तःपुर देखा है ?

नारद समझ गये कि पद्मनाभ को अपनी रानियों के सौन्दर्य का बड़ा अभिमान है। उधर वे भरत क्षेत्र की द्रौपदी से अप्रसन्न थे। उसने उनका सन्मान नहीं किया था और वे बदला लेने की फिराक में थे। अवसर देखकर उन्होंने सोचा—पद्मनाभ के घमण्ड की और द्रौपदी की उद्दण्डता की सजा देने का यह अच्छा अवसर है। एक ही ढेले से दो पक्षी मरेंगे। 'इस प्रकार सोच कर नारदजी बोले—राजन् ! तुम कूपमण्डूक हो। अभी तक तुमने सौन्दर्य देखा नहीं है। इसी कारण ऐसी बात कहते हो और अपनी रानियों को जगत् की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी समझते हो।

पद्मनाभ बोला तो आप ही बतलाइए कि अधिक सौन्दर्य कहां है ?

नारदजी—जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नामक नगर है। वहां के राजा पाण्डु के पांच पुत्र हैं। पांचों पुत्रों के बीच द्रौपदी नामक एक स्त्री है। द्रौपदी का सौन्दर्य असाधारण है। उसकी तुलना नहीं है। तुम्हारी सात सौ रानियां उसके तलुवे की भी बराबरी नहीं कर सकतीं।

नारदजी का कथन सुन कर पद्मनाभ का चित्त चंचल हो

उठा। उसने विचार किया-ऐसी सुन्दरी तो मेरे अन्तःपुर में होना चाहिए।

इस प्रकार नारदजी पद्मनाभ के अन्तःकरण में एक लालसा जगा कर चल दिए। पद्मनाभ द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए छटपटाने लगा। उसने दूसरा कोई उपाय न देख कर देवता की आराधना की। देवता ने उपस्थित हो कर पूछा—कहो, किस लिए मुझे याद किया है? पद्मनाभ ने अपने मन की बात देवता से कही। कहा—किसी प्रकार द्रौपदी को मेरे अन्तःपुर में ला दीजिए।

देवता ने कहा—राजन्! तुम्हारा यह मनोरथ प्रशस्त नहीं है। सत्पुरुषों को परस्त्री की कामना नहीं करना चाहिए। फिर द्रौपदी सती स्त्री है। प्राण दे देने पर भी वह तुम्हें अंगीकार नहीं करेगी। अतएव उसे यहां ला देने पर भी तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा।

मगर विषयान्ध पद्मनाभ की समझ में देवता की बात नहीं आई। उसने कहा-आगे जो होगा सो देख लेंगे। इतना कार्य तो आप कर ही दीजिए।

देवता ने कहा-ठीक है, मैं तुम्हारी पूर्वकृत तपस्या के अधीन हूं, अतएव तुम्हारा कार्य करना ही पड़ेगा, मगर यह समझ रखना कि इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।

तत्पश्चात् देवता हस्तिनापुर गया और पलंग पर सोती हुई द्रौपदी को उठा कर अमरकंका राजधानी के उद्यान में ले गया, अमरकंका धातकीखंड में, पद्मनाभ की राजधानी थी। द्रौपदी को उद्यान में छोड़ कर देवता ने पद्मनाभ को सूचना दे दी।

पद्मनाभ द्रौपदी के लाये जाने का समाचार सुनकर हर्ष के मारे फूला नहीं समाया। देवता अपना कार्य समाप्त करके अपने स्थान पर चला गया। राजा पद्मनाभ स्नान करके और उत्तम से उत्तम वस्त्रा-भूषणों से सुसज्जित होकर सीधा उद्यान में पहुंचा।

इसी बीच द्रौपदी की निद्रा भंग हुई। आंखें खुलते ही उसने जो कुछ देखा, उससे उसके विस्मय एवं उद्वेग का पार न रहा। आस-पास और ऊपर-नीचे का अजनबी दृश्य देख कर वह मन में विचार करने लगी—अरे, मैं कहां आ गई हूं।

तत्काल उसके मन में एक विचार आया और उसे बिजली का सा झटका लगा। सोचा—मेरा अपहरण किया गया है। फिर वह सोचने लगी-मैं कहीं भी होऊँ और किसी ने भी मेरा अपहरण किया हो, मेरा धर्म मेरी आत्मा के साथ है। वीरवर पाण्डव यहां नहीं हैं, और शत्रुसिंह कृष्ण वासुदेव भी नहीं हैं तथापि मैं अबला स्वयं प्रबल बनकर अपने धर्म की रक्षा करूंगी। आवश्यकता हुई तो धर्म की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर

दूंगी। देखती हूं किस नराधम ने यह जघन्य कृत्य करके नारी जाति की शक्ति को चुनौती दी है। निश्चय ही मेरा अपहरण करने वाला पुरुष वीर नहीं हो सकता, अन्यथा चोर की तरह क्यों मेरे साथ धोखा करता। मैं उसे नारी की अजेय शक्ति का परिचय दूंगी।

द्रौपदी इस प्रकार सोच ही रही थी कि पद्मनाभ उसके समक्ष जा पहुँचा। उसने कहा-सुन्दरी! कष्ट हुआ हो तो क्षमा करना। मैंने तुम्हारी बड़ी प्रशंसा सुनी थी और तभी से तुम्हें प्राप्त करने को विकल हो रहा था। मैं तुम्हारे सौन्दर्य का उपासक हूँ। बड़ी कठिनाई से दैवी सहायता प्राप्त करके तुम्हें पाया है। तुम अपने पूर्व स्थान से बहुत बहुत दूर आ पहुँची हो। मुझ पर अनुग्रह करो-मुझे पति रूप में स्वीकार करो।

द्रौपदी अपने अपहरण का बहुत कुछ रहस्य समझ गई। उसने युक्ति से काम निकालने का विचार करके उत्तर दिया-जब मैं बहुत-बहुत दूर आगई हूं तो भाग कर नहीं जा सकती। अतएव विश्वास करके मेरी एक बात स्वीकार करो। मुझे छह महीने का समय दो। तत्पश्चात जो भवितव्य होगा सो होगा।

यद्यपि द्रौपदी पद्मनाभ का तिरस्कार कर सकती थी, और अपने सतीत्व के लिए प्राण भी अर्पित कर सकती थी, मगर ऐसा करने से पद्मनाभ को उसके पापकृत्य का समुचित

कुन्ती ने कहा-कृष्ण ! क्या कहूं ! द्रौपदी को न जाने कौन पलंग सहित उठा ले गया है। बहुत खोज करने पर भी पता नहीं लग सका। इसी के लिए तेरे पास आई हूं। तुझे ही उसका पता लगाना पड़ेगा।

कृष्णजी बोले-आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। मैं वचन देता हूं--द्रौपदी जहां कहीं होगी, स्वर्ग और पाताल लोक से भी लाकर तुम्हें सौंप दूंगा।

भाइयों ! वीर पुरुष सहसा किसी को वचन नहीं देते और जब दे देते हैं तो उनका वचन पत्थर की लकीर होता है। कहा है—

सिंह पुरुष बोले नहीं, बोले तो करे।
दक्षिण मेह आवे नहीं, आवे तो भरे।

देवी कुन्ती इस प्रकार कृष्ण से वचन लेकर हस्तिनापुर लौट आईं और द्रौपदी के वापिस आने की प्रतीक्षा करने लगीं।

कृष्ण ने वचन तो दे दिया, मगर वह सोचने लगे-जब द्रौपदी का पता ही नहीं लग रहा है तो कहां से लाऊं और कैसे सौंपूं ? इस प्रकार कृष्णजी चिन्ता में बैठे थे कि अचानक नारद ऋषि उनके पास आ पहुंचे। उन्होंने कृष्णजी को गहन विचार में डूबे देख कर पूछा महाराज ! आज किस चिन्ता में निमग्न हैं ? कुशल-मंगल तो है ?

देवता—आप क्यों कष्ट करते हैं ? आज्ञा हो तो मैं स्वयं जाकर देवी द्रौपदी को ले आऊँ।

कृष्णजी—नहीं, मेरा जाना ही उचित होगा।

देव—अगर आप राजा को दण्ड देना चाहते हैं तो वह भी मेरे जिम्मे छोड़िए। आज्ञा हो तो सारी अमरकंका को समुद्र में डुबो दूं।

कृष्ण—नहीं, तुम तो हमें जाने का रास्ता भर दे दो. शेष कार्य मैं स्वयं ही कर लूँगा।

देवता ने रास्ता दे दिया और वासुदेव पाण्डवों के साथ अमरकंका जा पहुँचे। वहां पहुंचते ही कृष्ण ने अपने सारथी के साथ पद्मनाभ के पास पत्र भेजा, जिसमें लिखा गया था कि सन्मान के साथ द्रौपदी को वापिस लौटा दो और अपने कुकृत्य के लिए खेद प्रकट करो। ऐसा न कर सको तो युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

पद्मनाभ ने पत्र पढ़ा और अवहेलना के साथ उसे एक ओर फैंक दिया। उसने सोचा-कुल छह ही आदमी तो आए हैं। इधर मेरे पास विशाल सेना है। कचूमर निकाल दूंगा। मेरा वे क्या बिगाड़ लेंगे। हर्गिज नहीं लौटाऊँगा द्रौपदी को।

सारथी से कहा-तुम अपने स्वामी को कह देना कि द्रौपदी को पाने की इच्छा छोड़ दो, प्राणों की रक्षा की चिन्ता करो।

सारथी ने सब समाचार कृष्णजी से कहे। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों से कहा—युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाओ। उसी समय पाण्डव तैयार हो कर पद्मनाभ के सामने पहुँचे और बोले-शक्ति का अभिमान है तो आजा सामने, तू नहीं या हम नहीं।

मगर पाण्डवों ने जो शब्द कहे, वह मांगलिक नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि वे पराजित हो कर लौट आए। तब कृष्णजी युद्धभूमि में उतरे। उन्होंने कहा-पद्मनाभ, सामने आ, तुझे तेरे दुष्कृत्य का मजा चखाता हूँ। समझ ले कि आज तू नहीं है।

भाइयो! समय-समय पर निकाले हुए शब्दों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। पिछले महायुद्ध के समय जर्मनी की शक्ति इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री चर्चिल बखूबी जानते थे कि इस बार जीतना बड़ा कठिन है, फिर भी चर्चिल ने घोषणा की-'युद्ध से हमारा चाहे नुकसान होगा परन्तु अन्त में जीत हमारी ही होगी।' इस प्रकार की हिम्मत देख कर रूस और अमेरिका भी इंग्लैण्ड के साथ हो गए और चर्चिल की भविष्य-वाणी सत्य साबित हुई।

तो कृष्णजी ने भी प्रभावशाली शब्द कहे। कृष्ण को अकेला देख पद्मनाभ का अभिमान और बढ़ गया। वह सोचने लगा-'एक चना क्या भाड़ फोड़ेगा।' वह भूल गया कि एक ही

सूर्य सघन और विस्तृत अन्धकार के साम्राज्य को नष्ट करके लोक को आलोकमय बना देता है। एक ही केसरी सिंह जंगल के असंख्यात पशुओं को त्रस्त कर देता है।

कृष्णजी ने ज्यों ही शंख फूंका कि उसकी ध्वनी से भयभीत होकर पद्मनाभ की सेना का तीसरा भाग भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार उनकी प्रथम विजय शस्त्र से नहीं, शब्द से हुई। इस सिलसिले में एक बात याद आ रही है।

बादशाह अकबर जब दिल्ली में राज्य कर रहा था, उस समय की बात है। एक लुहार ने लोहे का जिरह बख्तर बनाया वह इतना मजबूत बनाया गया था कि तलवार और बन्दूक की गोली का उस पर असर नहीं हो सकता था। कारीगर ने बड़ी मिहनत करके उसका निर्माण किया था। ऐसी वस्तु को तो राजा लोग ही खरीद सकते थे। दूसरा कोई खरीद कर करता भी क्या? अतएव लुहार उसे लेकर बादशाह अकबर के पास पहुंचा। अकबर ने उसे देख कर खरीदने से इंकार कर दिया। लुहार बहुत निराश और हताश हुआ। मन ही मन सोचने लगा—हाय, इतने दिन मिहनत की और समय लगाया, परन्तु सब निरर्थक हुआ।

लुहार घर आकर उदास बैठ गया। तब लड़कों ने पूछा—पिताजी! आज आप उदास क्यों दिखाई पड़ते हैं? तब पिता ने कहा—बेटा, यह जिरहबख्तर मैंने बड़े परिश्रम से बनाया था,

परन्तु बादशाह ने भी इसे खरीदा नहीं। यह ऐसी चीज है कि राजाओं के यहीं बिक सकती है। जब बादशाह ने ही नहीं खरीदा तो दूसरा कौन खरीदेगा? और किसके काम आ सकता है यह।

लुहार के लड़कों में से एक बोला-आप इसके लिए चिन्ता न करें। मैं इसे ले जाता हूँ और बेच कर आऊँगा।

यह कह कर वह लड़का अकबर बादशाह के पास पहुँचा। उसने उसके गुणों का वर्णन करते हुए कहा-जहांपनाह! इस जिरहबख्तर में एक बडा गुण यह है कि इसे पहन कर जो लड़ाई के मैदान में उतरता है, उस पर तलवार का असर तो हो ही नहीं सकता, बन्दूक की गोली भी असर नहीं कर सकती। यकीन न हो तो इसे पहन कर परीक्षा कर लीजिए।

बादशाह ने कहा- तू स्वयं इसे पहन ले और मैं तलवार का वार करता हूँ। अगर तेरे शरीर पर असर न हुआ तो मैं इसे खरीद लूंगा।

लड़के ने बादशाह के कथनानुसार बख्तर पहन लिया। बादशाह तलवार लेकर ज्यों ही उस पर वार करने को तैयार हुआ कि लड़के ने बड़े जोर से 'हो!' कहा। 'हो' कहते ही बादशाह के हाथ से तलवार गिर पड़ी। तब लड़के ने कहा-बादशाह सलामत! इनाम दीजिए। बादशाह ने उसे इनाम भी

दिया और बख्तर भी खरीद लिया। आशय यह है कि मौके पर निकला हुआ साधारण-सा शब्द भी कभी कभी असर कर जाता है।

तो मैं कह रहा था कि ज्यों ही कृष्ण ने शंख फूंका कि पद्मनाभ की बहुत-सी सेना भाग गई। सेना के भागते ही पद्मनाभ का दिल दहल उठा और वह अपने नगर में भाग गया। उसने नगर के फाटक बंद करवा दिए। यह देख श्रीकृष्ण ने विक्रिया के द्वारा नरसिंह का रूप धारण किया और दीवारों पर ऐसे पंजे मारे कि नगर में घुसने के कई रास्ते बन गए। उन्होंने फिर अमरकंका को तहसनहस करना शुरु कर दिया।

श्रीकृष्ण का अद्भुत और असाधारण पराक्रम देख पद्मनाभ बुरी तरह भयभीत हुआ और द्रौपदी के पास भागा गया। बोला-'हे सती! मेरे प्राणों की रक्षा तेरे ही हाथों में है। मेरा अपराध क्षमा करो और बचाओ।'

पद्मनाभ की दयनीय दशा देख द्रौपदी का दिल दया से द्रवित हो गया। उसने कहा- तुम गीली साड़ी पहनो और मुझे आगे करके उनकी शरण में चलो, भेंट लेते चलो। वे तुम्हारा अपराध क्षमा कर देंगे।

भाइयों! मरता क्या न करता! आखिर प्राणों का मोह तो कोई विरले ही त्याग सकते हैं! साधारण मनुष्य प्राण रक्षा के

लिए सब कुछ कर सकते हैं। द्रौपदी के कथनानुसार पद्मनाभ कृष्णजी की शरण में पहुँचा और चरणों में गिरकर कहने लगा-मेरा अपराध क्षमा हो! सती द्रौपदी का अपहरण करवा कर मैंने भारी भूल की है। अब ऐसा न होगा।

श्री कृष्ण ने पद्मनाभ को क्षमा कर दिया। वह अपने महल में लौट गया। कृष्णजी द्रौपदी को लेकर विजय का शंख बजाते हुए लौट पड़े।

उस समय धातकीखंड में कपिल नामक वासुदेव थे। वे मुनिसुव्रतनाथ भगवान् के समवसरण में थे। उन्होंने कृष्णजी के शंख की आवाज सुनी तो सोचा-मेरे समान शंख बजाने वाला यह कौन है? भगवान् से पूछने पर उन्होंने फर्माया-वासुदेव! भरत क्षेत्र की द्वारिका नगरी कृष्ण वासुदेव राज्य करते हैं। यह ध्वनि उन्हीं के शंख की है। यह कह कर उन्होंने पूर्वोक्त घटना का सार भी बतला दिया।

कपिल वासुदेव नें उनसे मिलनें की अभिलाषा प्रकट की तो तीर्थङ्कर देव ने कहा-एक वासुदेव से दूसरा वासुदेव नहीं मिल सकता। मगर कपिल के अन्तःकरण में इतनी उत्कंठा जागृत हुई कि वह उसी समय मिलने के विचार से रवाना हुआ। तब तक कृष्णजी काफी दूर जा चुके थे। कपिल ने शंख बजाया तो उत्तर

में उन्होंने भी शंख बजा दिया। इस प्रकार वे आमने-सामने तो नहीं मिल सके, परन्तु व्यवहार सध गया।

तत्पश्चात् कपिल वासुदेव अमरकंका राजधानी में गए। विध्वस्त नगरी को देखकर उन्होंने पद्मनाभ से पूछा-नगरी की ऐसी हालत हो जाने का क्या कारण है?

पद्मनाभ ने कहा-महाराज, अचानक भारतक्षेत्र के वासुदेव कृष्ण ने हमला कर दिया। घोर युद्ध हुआ और इसी से नगरी की यह दशा हो गई है।

कपिल ने पद्मनाभ को खूब फटकारा। कहा-चोर कहीं के कायरतापूर्वक पराची स्त्री का अपहरण करवाते तुझे लज्जा न आई! शासक नीति का पालन नहीं करेगा तो प्रजा कैसे करेगी? अत्याचारी शासक शासन के योग्य नहीं रहता। अतएव मैं तुझे राजगद्दी से हटाता हूं।

इस प्रकार कह कर कपिल वासुदेव ने पद्मनाभ को राज्यच्युत कर दिया और उसके पुत्र को सिंहासन पर आसीन कर दिया।

इधर कृष्ण ने द्रौपदी को पाण्डवों के साथ आगे भेज दिया और कह दिया-मेरे लिए नाव जल्दी भेज देना। मगर पाण्डवों को न जाने क्या सूझी कि उन्होंने नाव नहीं लौटाई। सोचा-देखें, कृष्ण किस प्रकार इस पार आते हैं।

बहुत देर प्रतीक्षा करने पर भी नाव आती न देखी तो कृष्णजी को बड़ा क्रोध आया। वे अपने घोड़े के साथ दरिया में उतर गए। एक हाथ से पानी काटते हुए और दूसरे हाथ से घोड़े की लगाम थामे हुए आगे बढ़ते गए। एक बार तो वे नदी में गोता खा गए, किन्तु देवता ने उनकी रक्षा की, बड़ी कठिनाई से वे पार पहुंच सके।

कृष्ण को किनारे आया देख पाण्डव बोले-भाई साहब! आप कैसे आगए? आपके बल की परीक्षा करने के विचार से हमने नौका नहीं भेजी थी।

कृष्ण एकदम कुपित हो उठे। उन्होंने कहा-ठीक है, पद्मनाभ के साथ युद्ध करते समय तुमने मेरा बल नहीं देखा था। इस समय बल की परीक्षा करने की सूझी! मैं नहीं जानता था कि तुम लोगों में इतनी कुटिलता भरी है। तुमने मेरा असंगल चाहा। आगे अभी मेरी आंखों के आगे मत आना। यह कह कर उन्होंने पाण्डवों को देशनिर्वासन का दण्ड सुना दिया।

पाण्डवों के शरीर में काटो तो खून नहीं। वे एकदम सहम गए और अत्यन्त उदासभाव से हस्तिनापुर पहुंचे। द्रौपदी को वापिस लाने की प्रसन्नता पर पानी पड़ गया। वे माता कुन्ती के पास दुखड़ा रोने पहुँचे। माता ने कहा-कृष्ण के साथ तुमने अतीव अनुचित व्यवहार किया है। वे तुम्हारे काम गये और

तुमने ऐसा अयोग्य काम कर डाला ! खैर, मैं द्वारिका जाती हूं। वहां जाने पर जो होगा, देखा जाएगा।

आखिर कुन्ती को पुनः द्वारिका जाना पड़ा। पहुंची तो कृष्णजी ने समुचित स्वागत किया। फिर पूछा-भुआजी ! आज आपके अचानक आगमन का क्या अभिप्राय है ?

भुआजी ने कहा-बेटा पाण्डवों ने तुम्हारे साथ जो खतरनाक मजाक किया, वह अत्यन्त अविचारपूर्ण था। उन्हें दण्ड मिलना ही चाहिए। दण्ड देकर तुमने ठीक ही किया है। पर तुमने देशनिर्वासन का दण्ड दिया है, मगर तुम्हारा राज्य तो तीन खण्डों में फैला है। ऐसी स्थिति में वे कहां जाकर रहेंगे ? उन्हें रहने के लिए कोई स्थान तो बतलाना ही पड़ेगा।

तब कृष्ण ने उत्तर दिया-भुआजी मैंने जो आदेश दे दिया सो तो दे ही दिया है ! परन्तु आपको दक्षिण समुद्र के किनारे की जमीन देता हूं। वहां नगर बसा कर वे रह सकते हैं।

भाइयो ! 'अविवेकः परमापदां पदम्' अर्थात् अविवेक घोर आपत्तियों का कारण है। पाण्डव जैसे बुद्धिमान् भी विवेक को विस्मरण कर देने के कारण विपत्ति में पड़ गए। अतएव मनुष्य को सदैव विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिए।

हां, तो कृष्ण के आदेश के अनुसार पाण्डवों ने दक्षिण दिशा में जाकर नगर बसाया और वहां वे रहने लगे।

यह सोलवें अध्ययन का संक्षेप है। सत्तरहवें अध्ययन में शास्त्रकार फर्माते हैं—

एक बार बहुत-से व्यापारी जहाज में किराना वगैरह भर कर व्यापार के लिए विदेश जा रहे थे। चलते-चलते रास्ते में एक टापू मिला। थोड़ी देर विश्राम करने के लिए वे वहां ठहर गए। उन्होंने वहां थोड़ी दूरी पर देखा कि घोड़े चर रहे हैं। घोड़ों को चरने के लिए वहां बड़ा भारी मैदान था।

यह दृश्य देख कर और विश्राम करके व्यापारी आगे बढ़ गए। वे अपने लक्ष्य पर जा पहुंचे। व्यापार करके उन्होंने यथेष्ट धन उपार्जन किया। तत्पश्चात् वे स्वदेश की ओर रवाना हुए और सकुशल अपने-अपने घर आ पहुंचे। जब वे वहां के राजा से मिलने गए तो उसने पूछा—आप दूर दूर तक भ्रमण करके आए हैं। कहीं कोई अद्भुत वस्तु देखी हो तो बतलाओ।

व्यापारियों ने कहा—महाराज! मार्ग में हम एक टापू में ठहरे थे। वहां हमने बहुत अच्छी नस्ल के घोड़े देखे। वे पवन के समान वेग वाले, सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट थे। उनके चरने के लिए बहुत विस्तीर्ण मैदान था। घोड़े इतने बढ़िया थे कि इधर कहीं वैसे दिखाई नहीं देते।

व्यापारियों की बात सुन कर राजा के हृदय में उन घोड़ों

को प्राप्त करने की उत्कंठा जाग्रत हो गई। उसने सोचा-ऐसे उत्तम घोड़ों से अपनी घुड़साल की शोभा अवश्य बढ़ानी चाहिए।

राजा ने व्यापारियों से कहा—आप अपने काम से बहुत बार जाते हैं तो एक बार मेरे काम के लिए भी जाइए। व्यापारियों ने स्वीकृति दी और घोड़ों के खाने के योग्य उत्तम सामग्री एवं राजा के कतिपय सेवकों के साथ वे उस टापू की ओर रवाना हुए।

उस टापू पर पहुंच कर उन्होंने घोड़ों को चरते देखा। तत्पश्चात् उन्होंने अपने साथ लाई हुई घोड़ों की पांचों इन्द्रियों को लुभाने वाली सामग्री आसपास में बिखेर दी। पहले-पहल तो घोड़े भय के कारण पास न फटके, मगर जब कई दिन बीत गए तो उनका भय कम हो गया और उनमें से कुछ घोड़े वहां आने लगे और उस सामग्री का उपभोग करने लगे। इस प्रकार जब वे कुछ कुछ हिल गए तो एक दिन फंदा डालकर उन्हें पकड़ लिया गया। पकड़ कर और जहाज पर चढ़ा कर राजा के पास लाए। राजा उन्हें देख कर प्रसन्न हुआ। उसने उन्हें शिक्षा दिलवाई और अपनी घुड़साल में रख लिया।

जो घोड़े खाने पीने के प्रलोभन में नहीं पड़े थे, वे फंदे में फंसने से बच गए और उनकी स्वतन्त्रता ज्यों की त्यों कायम रही। वे उसी द्वीप में, प्रकृति की गोद में स्वच्छन्द भाव से विचरण करते रहे।

अभिप्राय यह है कि जो घोड़े पांचों इन्द्रियों के भोगों में लुभाये, उन्हें बन्धन में पड़ना पड़ा और उनकी आजादी सदा के लिए छिन गई। मगर जो विषयों के प्रलोभन न फँसे वे स्वाधीनता के सुख का उपभोग करते रहे।

इसी प्रकार जो मनुष्य संसार में रहता हुआ इन्द्रियों के विषयों में गृद्ध होता है उसे कर्म बन्धन का पात्र बनना पड़ता है। इसके विपरीत जो इन्द्रियों के भोगोपभोगों में आसक्त नहीं होता, वह आजादी का मजा लेता हुआ अपनी आत्मा को मुक्ति-धाम में पहुँचाता है।

अठारहवें अध्ययन में बतलाया गया है कि राजगृही नगरी में धनावह नामक सेठ रहता था। सेठ के घर एक नौकर रहता था। वह बाल बच्चों की देखभाल करता था और घर का दूसरा काम-काज भी करता था। मगर वह स्वभाव का दुष्ठ और लड़ाका था। उम्र से वह छोकरा था और अड़ौस-पड़ौस के लड़कों से झगड़ा एव मारपीट किया करता था। पड़ौसियों ने जब वार-वार उसकी शिकायत की तो सेठ ने तंग आकर उसे अपने घर से निकाल दिया। जब तक वह सेठ के यहां था, कुछ नियन्त्रण में रहता था। अलग होने पर पूरी तरह उच्छृङ्खल हो गया। चोरों जुआरियों, पारदारिकों और मद्ययों की संगति में पड़ कर उसके जीवन में प्राय: सभी भयंकर बुराइयां आ गईं। धीरे-धीरे वह चोरों के गिरोह में मिल गया और उनका सरदार बन गया।

एक दिन उसने अपनी चिरकालीन मनोकामना की पूर्त्ति करने का विचार किया। चोरों से कहा—चलो, आज हम लोग राजगृही के धनावह सेठ के घर छापा मारने चलें। वहां जो भी बहुमूल्य सम्पत्ति प्राप्त होगी, उसे तुम सब आपस में बांट लेना। मुझे उसकी लड़की सुषमा ही चाहिए, और कुछ नहीं।

इस प्रकार विचार करके वे सब डाकू रात्रि में सेठ के घर पहुँचे और उन्होंने सेठ के घर पर हमला किया। हमले में उन्हें बहुत-सा धन मिला और साथ ही उस लड़की को भी उठा ले गए।

जब सेठ का सर्वस्व लुट गया तो उसने जाकर आरक्षकों (पुलिस) से फरियाद की। बहुत-से पुलिस के कर्मचारी डाकुओं को पकड़ने के लिए रवाना हुए। स्वयं सेठ और उसके लड़के भी साथ साथ चले। वेग के साथ चलने के कारण वे डाकुओं के निकट आ पहुँचे। आगे-आगे डाकू और पीछे-पीछे पुलिस के सिपाही दौड़ने लगे। मगर जब डाकुओं ने देखा कि अब बचना कठिन है और हमें पुलिस की पकड़ में आना पड़ेगा, तो उन्होंने लूट में मिला धन मार्ग में ही गिरा दिया और वे जान बचाने के लिए इधर-उधर भाग खड़े हुए। धन गिरा हुआ देख पुलिस वाले वहीं रुक गए।

मगर सेठ और उसके लड़कों के लिए धन की अपेक्षा

कन्या का अधिक महत्त्व था। वे चाहते थे कि धन भले ही चला जाय, पर कन्या अवश्य मिलनी चाहिए। अतएव वे धन की उपेक्षा करके कन्या को प्राप्त करने के लिए सरदार के पीछे-पीछे भागने लगे। सरदार जान की बाजी लगा कर दौड़ता जा रहा था और सेठ भी बराबर उसका पीछा कर रहा था। आखिर जब सरदार को निश्चय हो गया कि ये पीछा नहीं छोड़ेंगे, तब उसकी प्रति-हिंसा की भावना चरम सीमा पर जा पहुंची। उसने सोचा-भले ही यह लड़की मुझे न मिले, मगर सेठ के हाथ भी इसे न पड़ने दूँगा। ऐसा सोच कर उस नृशंस सरदार ने लड़की का मस्तक काट डाला। वह धड़ छोड़ कर और मस्तक अपने साथ लेकर आगे भाग गया और जंगल में दृष्टि से ओझल हो गया। जब सेठ और उसके लड़के लड़की के निकट पहुँचे तो देख कर कराह उठे। लड़की का मस्तकविहीन कलेवर देख कर उनके हृदय को गहरा आघात लगा। अब तक जिस जोश के साथ वे आगे बढ़ रहे थे, वह सब शून्य में विलीन हो गया। जैसे शरीर की सारी शक्ति समाप्त हो गई हो। एकदम सुस्त और अशक्त होकर वे वहीं रुक गए। उस समय उनकी दशा अनिर्वचनीय थी। उनके दुःख का पार नहीं था।

पिता-पुत्र थोड़ी देर तक लड़की के शव के पास बैठे आंसू बहाते रहे। अब समस्या वापिस लौटने की थी। जोश ही जोश में वे बहुत दूर आ पहुंचे थे। थके तो थे ही, भूख और प्यास से

भी व्याकुल थे। पेट में कुछ न पड़ जाय, तब तक जंगल को पार करके घर नहीं पहुँच सकते थे। जंगल में खाने पीने के योग्य कोई वस्तु दिखाई नहीं देती थी। इस प्रकार पिता और पुत्रों का जीवन भी संकट में पड़ गया था।

सारी परिस्थिति का विचार करके अनुभवी सेठ ने अपने पुत्रों से कहा—प्रिय पुत्रों! मैं वृद्ध वापिस लौट कर घर नहीं पहुँच सकता। मुझे मार्ग में मरना ही होगा, अतएव तुम लोग अपने प्राणों की रक्षा के लिए मुझे मार कर खा जाओ और सकुशल घर पहुँचो। भूखे प्यासे चलोगे तो सभी को मरना पड़ेगा। इससे बेहतर यही है कि मैं मरूँ और तुम लोग जीवित रहो।

पिता के यह ममता भरे शब्द सुन कर सभी पुत्रों के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। तब सब से बड़े पुत्र ने कहा—पिताजी! आप हमारे लिए देवतास्वरूप हैं। पूज्य हैं। आपकी सेवा करना हमारा धर्म है। अतएव आपका घात करके हम अपने प्राणों की रक्षा नहीं करेंगे। हमारा शरीर आपका ही दिया हुआ है। आपकी प्राणरक्षा में यह लग जाय तो इसका सदुपयोग हो होगा। अतएव मैं अपने प्राणों का परित्याग करता हूँ। आप सब इससे उदरपूर्ति करके सकुशल घर पधारिए।

ज्येष्ठ भ्राता की उदारता और स्वार्थभावना देख कर सेठ

कन्या का अधिक महत्त्व था। वे चाहते थे कि धन भले ही चला जाय, पर कन्या अवश्य मिलनी चाहिए। अतएव वे धन की उपेक्षा करके कन्या को प्राप्त करने के लिए सरदार के पीछे-पीछे भागने लगे। सरदार जान की बाजी लगा कर दौड़ता जा रहा था और सेठ भी बराबर उसका पीछा कर रहा था। आखिर जब सरदार को निश्चय हो गया कि ये पीछा नहीं छोड़ेंगे, तब उसकी प्रति-हिंसा की भावना चरम सीमा पर जा पहुंची। उसने सोचा–भले ही यह लड़की मुझे न मिले, मगर सेठ के हाथ भी इसे न पड़ने दूँगा। ऐसा सोच कर उस नृशंस सरदार ने लड़की का मस्तक काट डाला। वह धड़ छोड़ कर और मस्तक अपने साथ लेकर आगे भाग गया और जंगल में दृष्टि से ओझल हो गया। जब सेठ और उसके लड़के लड़की के निकट पहुँचे तो देख कर कराह उठे। लड़की का मस्तकविहीन कलेवर देख कर उनके हृदय को गहरा आघात लगा। अब तक जिस जोश के साथ वे आगे बढ़ रहे थे, वह सब शून्य में विलीन हो गया। जैसे शरीर की सारी शक्ति समाप्त हो गई हो। एकदम सुस्त और अशक्त होकर वे वहीं रुक गए। उस समय उनकी दशा अनिर्वचनीय थी। उनके दुःख का पार नहीं था।

पिता-पुत्र थोड़ी देर तक लड़की के शव के पास बैठे आंसू बहाते रहे। अब समस्या वापिस लौटने की थी। जोश ही जोश में वे बहुत दूर आ पहुंचे थे। थके तो थे ही, भूख और प्यास से

भी व्याकुल थे। पेट में कुछ न पड़ जाय, तब तक जंगल को पार करके घर नहीं पहुँच सकते थे। जंगल में खाने पीने के योग्य कोई वस्तु दिखाई नहीं देती थी। इस प्रकार पिता और पुत्रों का जीवन भी संकट में पड़ गया था।

सारी परिस्थिति का विचार करके अनुभवी सेठ ने अपने पुत्रों से कहा–प्रिय पुत्रों! मैं बूढा वापिस लौट कर घर नहीं पहुँच सकता। मुझे मार्ग में मरना ही होगा, अतएव तुम लोग अपने प्राणों की रक्षा के लिए मुझे मार कर खा जाओ और सकुशल घर पहुंचो। भूखे प्यासे चलोगे तो सभी को मरना पड़ेगा। इससे बेहतर यही है कि मैं मरूँ और तुम लोग जीवित रहो।

पिता के यह ममता भरे शब्द सुन कर सभी पुत्रों के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। तब सब से बडे पुत्र ने कहा–पिताजी! आप हमारे लिए देवतास्वरुप हैं। पूज्य हैं। आपकी सेवा करना हमारा धर्म है। अतएव आपका घात करके हम अपने प्राणों की रक्षा नहीं करेंगे। हमारा शरीर आपका ही दिया हुआ है। आपकी प्राणरक्षा में यह लग जाय तो इसका सदुपयोग ही होगा। अतएव मैं अपने प्राणों का परित्याग करता हूं। आप सब उससे उदरपूर्त्ति करके सकुशल घर पधारिए।

ज्येष्ठ भ्राता की उदारता और उत्सर्गभावना देख कर शेष

भाइयों ने भी इसी आशय की बात कही। शेष की रक्षा के लिए सभी अपने-अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को उद्यत थे। लड़कों का यह भ्रातृप्रेम देख कर घोर संकट के उस समय में भी सेठ को सन्तोष हुआ। अन्त में सेठने विचार किया-प्यारे पुत्रों! इतना सब कुछ लुट जाने पर भी मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूं, क्योंकि तुम भाइयों में पारस्परिक प्रीति अगाध है। अगर तुममें ऐसा ही प्रेम रहा तो संसार की कोई भी शक्ति तुम्हें दुखी नहीं कर सकेगी।

सेठ ने कुछ सोच विचार कर फिर कहा-हममें से किसी को भी प्राण देने की आवश्यकता नहीं है। यह लड़की मृतक ही पड़ी है, इसी के शरीर से हम अपनी भूख मिटा सकते हैं।

पिता का सुझाव सब ने स्वीकार किया। लड़की के कलेवर से भूख-प्यास बुझा कर वे वापिस लौटे और सही:सलामत अपने घर पहुंच गए।

भाइयो! इस दृष्टान्त के अन्तरतत्त्व का विचार करने पर ज्ञात होगा कि इसमें साधक के लिए उच्चकोटि की साधना का दिग्दर्शन कराया गया है। यह तो स्पष्ट है कि सेठ और उसके लड़के अपनी लड़की को बचाना चाहते थे। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें उसका मांस खाना किसी भी स्थिति में अभीष्ट नहीं था। फिर भी अन्य कोई गति न होने के कारण, अनिच्छापूर्वक

उन्होंने अपनी लड़की के मांस का भक्षण किया। किसी भी प्रकार की लोलुपता न रखते हुए, केवल नगर में पहुंचने की भावना से ही उन्हें मांसभक्षण करना पड़ा। इसी प्रकार साधक सन्त जिह्वा-लोलुपता से सर्वथा विमुक्त रह कर, केवल संयमयात्रा का निर्वाह करने के लिए और निर्वाण रूपी नगर में पहुँचने के लिए, ही आहार को ग्रहण करे।

यह पौद्गलिक शरीर भाड़ा लिये बिना धर्म कार्य में सहायक नहीं हो सकता और इस शरीर के बिना मोक्ष की करनी नहीं की जा सकती। यही कारण है कि मुनि जन शरीर पर ममता और आहार में लोलुपता न धारण करते हुए भी आहार-पानी ग्रहण करते हैं, कहा है—

अवि अप्पणो विदेहम्मि, नायरन्ति ममाइयं।

अर्थात्—साधु जन अपने शरीर पर भी ममता धारण नहीं करते हैं।

इस प्रकार इस दृष्टान्त से अनासक्ति की शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। जो साधक अनासक्त होकर अपना व्यवहार चलाते हैं, उन्होंने व्यवहार में भी बाधा नहीं पड़ती और वे चिकने कर्म बन्धन से भी बच जाते हैं।

अब उन्नीसवें अध्ययन में वर्णित पुण्डरीक और कुण्डरीक का उदाहरण आपके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

भाइयो! पुण्डरीक और कुण्डरीक दो भाई थे। किसी समय कुण्डरीक ने किसी साधु पुरुष के मुख से धर्म का उपदेश सुना। उपदेश से प्रभावित होकर वह परम वैराग्य के साथ दीक्षित हो गया। दीक्षा लेने के पश्चात् वह संयम और तप की आराधना करने लगा। एक हजार वर्ष तक वह तपस्या करता रहा। किन्तु वह राजकुल में जन्मा था और ऐश-आराम से रहा था। कभी स्वप्न में भी कष्ट सहन नहीं किया था। मगर संयम-जीवन में वह सब बातें कहां थीं? तपश्चरण और पारणा के दिनों रूखा-सूखा भोजन! ऊपर से ग्रामानुग्राम विहार। इन सब कारणों से कुण्डरीक के शरीर में रोग उत्पन्न हो गया। जब पुण्डरीक को यह समाचार ज्ञात हुआ तो आग्रह और प्रार्थना करके वह उसे अपने यहां ले आया। पुण्डरीक ने श्रद्धा-भक्ति के साथ कुण्डरीक मुनि की चिकित्सा करवाई और मुनि पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गए।

स्वस्थ हो जाने के पश्चात् भी कुण्डरीक मुनि की विहार करने की इच्छा नहीं हुई। बात यह थी कि वे अच्छे खान-पान में आसक्त हो गए थे, सुखशील हो गए थे और विहार करने में कष्ट का अनुभव कर रहे थे।

राजा पुण्डरीक इस तथ्य को समझ गया। एक दिन अवसर पाकर पुण्डरीक ने उनसे कहा—मुनिवर! क्या आपके

चित्त में सुखशीलता उत्पन्न हो गई है ? भोजन-पानी के प्रति गृद्धि हो गई है ? किस कारण से आप स्वस्थ होकर भी कल्प के अनुसार विहार नहीं कर रहे हैं ?

राजा पुण्डरीक की आलोचना सुन कर कुण्डरीक ने विहार तो कर दिया, मगर कुछ दूर जा कर उनका विचार बदल गया। गुरु को मार्ग में छोड़ कर वे पुनः वापिस लौट आए और सीधे अशोकवाटिका में पहुँचे। किसी दासी ने उन्हें वाटिका में बैठे देखा तो वह उसी समय राजा के पास गई और कहने लगी— महाराज ! आपके भ्राता कुण्डरीक मुनि तो अशोकवाटिका में विराजमान हैं।

राजा को विस्मय भी हुआ और खेद भी हुआ। वह फौरन कुण्डरीक के पास पहुंचा और बोला—आप तो यहां से खुशी-खुशी विहार करके गए थे, फिर कैसे आगमन हो गया ? आपका मनोरथ क्या है ? क्या आप पुनः गृहस्थावस्था में आना चाहते हैं ?

तब कुण्डरीक ने कहा—भाई ! मैं क्या कहूँ ! मेरा मन गिर गया है। अब मुझमें साधुत्व का पालन करने का सामर्थ्य और साहस नहीं रहा। मैं विहार नहीं करूँगा।

कुण्डरीक का उत्तर सुन कर राजा पुण्डरीक विचार करने लगा—कर्मों की क्रीड़ा बड़ी विचित्र है। यह ऊँचे चढ़े हुए को नीचे गिराने में देर नहीं करते।

राजा पुण्डरीक की भावना ऊँची श्रेणी पर चढ़ी। उन्होंने कुण्डरीक के उपकरण ग्रहण किए और उसी समय साधु का वेष अंगीकार कर लिया। कुण्डरीक को राजसिंहासन पर बैठा दिया। इस प्रकार साधु राजा बन गया और राजा साधु बन गया।

कुण्डरीक राज्य प्राप्त करके इन्द्रियों के भोगोपभोग में अत्यन्त आसक्त हो गया। प्रतिकूल भोजन-पान के सेवन से शीघ्र ही उसके शरीर में वेदना उत्पन्न हुई। लम्बे समय तक चारित्र का पालन करते समय उसकी अगले भव की आयु का बन्ध नहीं हुआ था, परन्तु जब वह कामभोगों में अत्यन्त आसक्त हुआ, संयोग से उसी समय आयु का बन्ध हुआ। अतएव वह मृत्यु के पश्चात् नरक गति का अतिथि बना।

उधर पुण्डरीक मुनि उच्च भावना से संयम में निरत हुए। वह सोचने लगे–आह ! मैंने बहुमूल्य मानव जीवन का बहुत सा काल निस्सार भोगोपभोगों में और विषयविलास में गँवा दिया। खेद है कि इससे पहले मुझे वैराग्य न प्राप्त हुआ।

इस प्रकार उन्नत भावनाओं को परिपुष्ट करते हुए, संयम का विशुद्ध रूप से पालन करते हुए और परम श्रद्धा के साथ नीरस भोजन करते हुए पुण्डरीक मुनि विचरण करने लगे। परन्तु प्रतिकूल भोजन मिलने से इनके शरीर में भी व्याधि उत्पन्न हो गई। यथासमय शुद्ध समाधि के साथ उन्होंने शरीर का परित्याग

किया और सर्वार्थसिद्ध नामक अनुत्तर विमान में, तेतीस सागरोपम की स्थिति पाकर उत्कृष्ट देवगति प्राप्त की।

भाइयो! चढ़ती और गिरती भावना का अन्त में क्या परिणाम होता है, यह बात इस दृष्टान्त से सहज ही समझी जा सकती है। अपने-अपने विचारों के कारण उन्हें स्वर्ग और नरक की प्राप्ति हुई।

मनुष्य का मन अत्यन्त चपल है। मनुष्य का आज कैसा विचार है और कल क्या विचार हो जाएगा, यह किसे पता है? जैसे मन्दिर के शिखर की ध्वजा स्थिर नहीं रहती और वायु के वेग के अनुसार कभी इधर तो कभी उधर फहराने लगती है, इसी प्रकार मनुष्य का मन भी चंचल ही बना रहता है। अतएव मन की साधना सब से बड़ी साधना है। जब तक मन वशीभूत नहीं होता, तब तक दूसरी ऊपरी साधना का कोई मूल्य नहीं है। जिसने मन का निग्रह कर लिया, समझ लो कि उसने पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। मगर उसका निग्रह करना सहज नहीं है। इसके लिए दीर्घकालीन और निरन्तर उत्कट प्रयास करना पड़ता है। धर्मशिक्षा के द्वारा मन पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

यह काया मन्दिर के समान है और मन ध्वजा के समान। जब विषय-कषाय का तूफान आता है तो मन रूपी ध्वजा फड़-फड़ाने लगती है। कहा है—

काया मन्दिर मन ध्वजा, विषय पाय फराय।
मन डिगे ज्यूं काया डिगे, तो जड़ामूल से जाय॥

भाइयो! तन-मन्दिर की मन रूपी ध्वजा जब हिलती है तब यदि तन भी हिल जाय तो जड़-मूल से खात्मा ही समझिए।

जैसे ध्वजा वायु के वेग के अनुसार हिलती है उसी प्रकार मन भी भावना के अनुसार पलटता है। वह मनुष्य को ऊँचा भी उठाता है और नीचे भी गिराता है। कहा भी है:—

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः।

मन ही कर्मबन्धन को तोड़ने वाला है और मन ही कर्म-बन्धन को सुदृढ़ करने वाला है।

हे मानव! बन्धन के काम तो यह मन अनादि काल से करता ही रहा है और आज भी कर रहा है, इसी कारण से जीव ने अनन्त-अनन्त दुःख और कष्ट झेले हैं। मगर अब तो चेतो और ऐसा प्रयत्न करो कि दुःखों से सदा के लिए छुटकारा मिल जाए और आत्मा को शाश्वत शान्ति की प्राप्ति हो सके।

स्वर्गीय जैनदिवाकर श्री चौथमलजी म० ने मन की विचित्रता का चित्रण करते हुए फर्माया है—

संतन बीच मन संत हु बने झट,
भोगी के बिच मन आप धारे भोगता।

राजीखुशी बीच मन आप बने राजीखुशी,
शोगी के बीच मन आप धारे शोगता।
विरक्त को देख मन विरक्त की चाल चले,
नारी को देख मन शीघ्र मन मोहता।
चौथमल कहे मन की गति विचित्र,
जैसा देखे ढङ्ग मन वैसा मन होवता॥

अर्थात्—यदि आप किसी साधु की उपासना कर रहे हैं तो आपके हृदय में शालिभद्र के जैसी भावना आ जाती है-वैराग्य आ जाता है। और जब वहां से हटकर घर पहुंचते हैं और भोजन करते हैं तो फिर भावना हो जाती है-लड्डू लाओ, चक्की लाओ! और जब प्रसन्नता के वातावरण में प्रवेश करते हैं तो स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि किसी के घर मातम हो और आप संवेदना प्रकट करने गए हों तो सामने वालों को शोकमग्न देखकर आपका मन भी शोक की लहरों में बहने लगता है। अभी खुश थे और अभी आंखें गीली हो गईं। यह मन कभी धर्मी बन जाता है, कभी पापी बनते देर नहीं लगाता। तात्पर्य यह है कि जैसा आसपास का वातावरण होता है, वैसा ही यह मन भी बन जाता है। और जिस दिशा में हवा चलती है उसी दिशा में ध्वजा फहराने लगती है।

भाइयो! वास्तव में मन को वश में रखना बड़ा कठिन है। फिर भी काया नहीं हिलनी चाहिए। और क्यों साहब, यदि

काया भी हिलने लगे तो क्या हाल हो ? अजी, मन की तरह यदि काया भी हिलने लगे तब तो सब काम ही बिगड़ जाय। इसलिए भाइयो ! अपने मन को जीतो मन की जीत में ही आपकी सच्ची जीत है। मन को जीतना सब से बड़ी तपस्या है।

अमरसेन-वीरसेन चरित—

यही बात आपको अमरसेन और वीरसेन के चरित द्वारा कहने जा रहा हूं, कल बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार फूल सूंघने से वेश्या गधी बन गई, किस प्रकार अमरसेन ने अपने साथ किये गये विश्वासघात का बदला लेने और भविष्य के लिए शिक्षा देने के विचार से उसे बुरी तरह पीटा और किस प्रकार कोतवाल विफल होकर लौट गया। कोतवाल जब अमरसेन को न पकड़ सका तो वह राजा वीरसेन के पास पहुंचा। उसने महाराज से कहा—अन्नदाता ! वह जादूगर बड़ा बलवान् है। मैंने पकड़ने की भरसक कोशिश की, मगर वह हाथ नहीं आ सका। उसने सिपाहियों पर भी हमला करके उन्हें चोट पहुँचाई है।

कोतवाल की रिपोर्ट सुनकर वीरसेन अत्यन्त कुपित हुआ, वह कहने लगा—अरे कोतवाल ! तू यों तो बहुत शेखी बघारता है कि मैं ऐसा कर सकता हूं, वैसा कर सकता हूँ, मगर आज देखली तेरी शूरवीरता। तुझसे एक मामूली आदमी भी न पकड़ा जा सका। आज पता चला कि तू कितना बुजदिल है। चूड़ियां पहन

कर घर में बैठ जा। तूने शासन की प्रतिष्ठा को धब्बा लगाया है। अब मैं स्वयं जाता हूं और देखता हूँ वह जादूगर कैसा शेर है।

इस प्रकार कहकर राजा वीरसेन कमर में तलवार लटका कर महल से बाहर निकला। कुछ सैनिक भी राजा के साथ चले।

राजा अमरसेन के सामने जा रहा था और उधर अमरसेन गधी को पीटता हुआ राजा की ओर ही आ रहा था। दोनों ने एक दूसरे को देखा। दोनों की आंखें चार हुईं। देखते ही दोनों चकित और विस्मित हो रहे! वीरसेन ने अमरसेन को और अमरसेन ने वीरसेन को पहचान लिया। यद्यपि दोनों भाइयों को बिछुड़े पर्याप्त समय हो चुका था, फिर आखिर दोनों सहोदर भाई थे। साथ-साथ खेले, रहे; सुख-दुःख के साथी भी थे। क्यों न पहचानते।

लम्बे अर्से से दोनों एक ही नगर में रह रहे थे, तथापि उनका मिलन नहीं हो सका था। अब जब एक भाई ने दूसरे को देखा तो दोनों के दिलों में प्रेम की गंगा हिलोरें मारने लगी।

अमरसेन ने गधी को वहीं छोड़ दिया और दौड़कर भाई के गले से जा लगा। भाई को गले लगते देख वीरसेन की आंखों से भी प्रेम की अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। वीरसेन उस समय भूल गया कि वह राजा है, प्रतिष्ठापात्र है, और

प्रजाजन देखेंगे तो क्या कहेंगे। प्रेम के प्रबलतर आवेग में ऐसी चीजें स्मरण नहीं रहती। उस समय समस्त दीवारें ढह जाती हैं।

वि० सं० २००८ में मैं चातुर्मास के लिए दिल्ली जा रहा था और सदर बाजार में ठहरा हुआ था। प्रतापमलजी म० मेरे साथ थे। वहीं दिगम्बर जैनाचार्य श्रीसूर्यसागरजी भी ठहरे हुए थे। वे कोटा में जैनदिवाकर श्री चौथमलजी म० के साथ व्याख्यान दे चुके थे। मैंने सोचा-आचार्यजी से मिलना चाहिए और आहार-पानी किये बिना ही हम उनसे मिलने के लिए चल दिए। उस समय वहां के संघ के मुखिया मुसद्दीलालजी थे। अस्सी वर्ष के वृद्ध थे और कभी दिगम्बर मुनियों के पास नहीं जाते थे। यद्यपि उनके लड़कों-लड़कियों का विवाह दिगम्बर समाज में हुआ था, परन्तु वे कभी उनके पास नहीं गए थे। मगर वे इस बार हमारे साथ चले। हम लोग वहां पहुँचे जहां दिगम्बराचार्य ठहरे हुए थे, मगर उस समय वे आहार के लिए गए थे। हम उनके लौटने की प्रतीक्षा में वहां बैठ गए। जब वे लौटे तो हमसे गले लग कर मिले। तब संघपतिजी से मैंने कहा-मुसद्दीलालजी! आप तो कपड़े वाले हो और यह नग्न हैं, परन्तु इनमें कितना प्रेम है।

मुसद्दीलालजी बोले-मैंने तो साधुओं में इतना प्रेम कभी नहीं देखा।

तो भाइयो! जहां प्रेम होता है वहां मिलाप में आनन्द

आता ही है। आप देखते होंगे, दशहरे के बाद जब भरतमिलाप होता है तो वह दृश्य प्रेम की अपूर्व गंगा बहा देता है। दर्शकों के दिल प्रेम से परिपूर्ण हो जाते हैं-गद्गद् हो जाते हैं। वास्तव में प्रेम की महिमा अपार है।

दोनों भाई मिले तो उसी समय वीरसेन ने आज्ञा देकर पालकी मँगवाई। पालकी के आने पर उसमें अमरसेन को बिठलाया और राजा स्वयं भी बैठ गया।

असली रहस्य किसी पर प्रकट नहीं हुआ था, अतएव वह दृश्य देखकर लोग चकित रह गए। आपस में कहने लगे—अरे! महाराज तो इस जादूगर को पकड़ने आए थे, परन्तु स्वयं इसके जादू में आ गए, एक अज्ञात अपरिचित के गले लग गए। अथवा पता नहीं, दोनों में क्या सम्बन्ध है।

उनमें से कोई कोई कहने लगे—कुछ भी हो, हमें क्या प्रयोजन है? इनकी यही जानें। भीतरी भेद का हम लोगों को क्या पता है?

परन्तु जब महाराज ने देखा कि जनता इस रहस्य को जानने के लिए उत्कंठित है, तो स्पष्टीकरण करते हुए कहा-मेरे प्यारे नगरनिवासियो! आप लोग शंका अथवा आश्चर्य में न पड़ें। हम दोनों सहोदर भाई हैं। एक ही माता ने हम दोनों को जन्म दिया है। एक साथ ही हम दोनों इस नगर में आए थे,

परन्तु संयोगवश आते ही बिछुड़ गए थे। आज इस निमित्त से अकस्मात् मिलाप हो गया है।

प्रजाजनों की शंकाएँ दूर हो गईं और प्रसन्नता का वायुमण्डल फैल गया। वीरसेन प्रजाप्रिय नरेश थे, अतएव उनकी प्रसन्नता में प्रजा ने भी अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव किया।

दोनों के ऊपर छत्र-चँवर सुशोभित होने लगे। गाजे-बाजे के साथ उन्होंने राजमहल में प्रवेश किया। दूसरे दिन राजा ने बन्धुमिलन का उत्सव मनाया। प्रधान नागरिक तरह-तरह के मूल्यवान् उपहार लेकर राजा को बधाई देने पहुंचे। राजा ने इस अवसर पर योग्य प्रजाजनों को पदवियां प्रदान कीं और सब का समुचित स्वागत-सत्कार किया। सेवकों को पारितोषिकवितरण किया गया।

भाइयो ! दही में से मक्खन तब निकलता है जब एक हाथ ढीला और दूसरा हाथ सख्त रक्खा जाता है। इसी प्रकार लेने और देने से प्रीति बढ़ती है। जो लेना ही लेना जानता है और देने के नाम पर कोसों दूर भागता है, वह प्रीति का पात्र नहीं रहता। कंजूस कह कर लोग उसके प्रति घृणा व्यक्त करते हैं।

इधर महोत्सव मनाया जा रहा था और प्रजा भी प्रसन्नता का अनुभव कर रही थी, मगर उधर वेश्याएँ चक्कर में पड़ी थीं। उन्होंने मिल कर विचार किया पासा पलट गया है। अब जोर-

जबर्दस्ती से काम बनने वाला नहीं है। इस उत्सव का लाभ उठा लेना चाहिए। अगर हमारी वह साथिन इस मौके पर भी गधी ही बनी रही तो उसका उद्धार होना कठिन हो जाएगा। अतएव इस खुशी के मौके पर ही उसके उद्धार का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार विचार करके वे महाराज वीरसेन की सेवा में पहुंची। यथायोग्य भेट देकर उन्होंने प्रार्थना की–महाराज ! आप भाई-भाई तो मिल गए परन्तु हमारी प्रार्थना पर भी ध्यान दीजिए और हमारी चिन्ता दूर कीजिए।

वीरसेन के हृदय में करुणा उत्पन्न हुई। उन्होंने अमरसेन की ओर देख कर कहा–भाई ! यह वेश्याएँ क्या कह रही हैं ? उस वेश्या के विषय में क्या बात है ?

अमरसेन ने कहा–इसी प्रसंग की बदौलत हमारा मिलाप हो सका है। मगर आप नहीं जानते, वह वेश्या बड़ी ही धूर्त्त, चालबाज विश्वासघातिनी और निर्मम है। मैं उसके चक्कर में फँस गया तो उसने मुझे बहुत धोखा दिया–एक बार नहीं, कई बार। पहले उसने मेरी गुठली चालाकी से हथिया ली और दूसरी बार चमत्कारी पाउड़ियां ले लीं। उसने मुझे सदा के लिए आंखों से ओझल करने में कोई कसर नहीं रक्खी और न अपमान करने में। मैंने यह सोचकर उसे शिक्षा दी है कि भविष्य

में वह किसी और के साथ विश्वासघात और धोखा न करे। उसे अपने किये का फल भोगने दीजिए।

मगर वीरसेन ने आग्रहपूर्वक कहा—भाई, जो हुआ सो हो गया। प्रसन्नता के इस प्रसंग पर उसे भी दया का लाभ मिलने दो। उसे पुनः वेश्या के रूप में ले आओ।

यद्यपि अमरसेन वेश्या का अपराध क्षम्य नहीं समझता था, तथापि बड़े भाई की इच्छा देखकर उसने उसे पुनः मनुष्यनी बना देना स्वीकार कर लिया। दूसरा फूल निकाल कर उसे सुंघा दिया। फूल को सूंघते ही वह पुनः अपने पूर्व रूप में आ गई—वेश्या बन गई।

तत्पश्चात् अमरसेन ने उसे चेतावनी देते हुए कहा—मैंने तुझे गधी से मनुष्यनी बना दिया है, परन्तु मेरी तमाम चीजें लाकर दे दे, अन्यथा तेरी खैर नहीं है खासतौर से वह गुठली और खड़ाऊँ शीघ्र से शीघ्र लौटा दे।

वेश्या लज्जित होकर कहने लगी—मुझसे जो भूल हो गई है. उसके लिए क्षमायाचना करती हूं। आपकी वह वस्तुएँ लाकर अभी लौटाए देती हूँ। यह कह कर वह अपने घर गई और अमरसेन की वस्तुएँ लाकर उसे सिपुर्द कर दीं।

तत्पश्चात् दोनों भाई आनन्दपूर्वक रहने लगे। जब वह स्थिर हो गए और मन में कोई शल्य न रहा तो एक दिन विचार

किया-अब हम दोनों भाई मिल गए हैं, राज्य की प्राप्ति हो चुकी है और सब प्रकार का आनन्द हो गया है और माता-पिता से डरने का भी कोई कारण नहीं रहा है। अब वह दिन चले गए जब उन्होंने हमें मरवा डालने का विचार किया था। अब हमें एक पत्र लिखकर कंपिलपुर भिजवाना चाहिए और उसमें यही लिखना चाहिए कि हम आपके दोनों पुत्र घूमते-फिरते यहां आ पहुंचे और राज्य के अधिकारी हो गए हैं। अब आप पुरानी घटनाओं को भूल जाएँ और कृपा करके यहां पधारें।

इसी आशय का पत्र लिखा गया और दूत को देकर कहा-कंपिलपुर जाओ और वहां के नरेश की सेवा में इसे पेश करो।

दूत पत्र लेकर सिंहलपुर से रवाना हुआ और यथा समय कंपिलपुर पहुँचा। राजा जयसेन को पता नहीं था कि मेरा पुत्र वीरसेन ही सिंहलपुर का राजा है। उसने सोचा था-एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं। मगर जब जयसेन ने वह पत्र पढ़ा और अपने पुत्रों के उत्कर्ष का विचार किया तो प्रसन्नता से उछल पड़ा। वह पुत्रों से मिलने के लिये अतीव उत्कंठित हो उठा। साथ ही पुरानी घटना उसके दिमाग में चक्कर काटने लगी। पश्चात्ताप करता हुआ राजा जयसेन सोचने लगा-मेरी मति कैसी भ्रष्ट हो गई थी कि घटना की किसी प्रकार जांच-पड़ताल किये बिना ही मैंने, अपने आत्मजों के वध का आदेश दे दिया। पिता के नाते न सही, एक न्यायप्रिय राजा के नाते भी मा

को सफाई देने का अवसर देना चाहिए था। मगर जो होना था, हो गया। उनका पुण्य प्रबल था कि उनके प्राणों की रक्षा हो गई। यही नहीं, पण्डितों की उनके राजा बनने की भविष्यवाणी भी सफल हो गई।

राजा ने दूत से प्रश्न किया–महाराज वीरसेन, अमरसेन आदि सब कुशलपूर्वक हैं ?

दूत ने उत्तर दिया–जी हां, आपकी कृपा से। महाराज ने आपको पधारने का अनुरोधपूर्वक आग्रह किया है।

राजा फिर गंभीर विचार में डूब गया। सोचने लगा-मैंने इन लड़कों के प्रति क्रूरतम व्यवहार किया है, फिर भी वे मुझे प्रेमपूर्वक बुला रहे हैं। मगर वहां जाकर कैसे मुँह दिखलाऊँगा ? कुछ भी हो, एक बार मुझे जाना ही होगा।

महाराज ने वह पत्र महारानी को पढ़ने दिया। वह भी अपने अविवेकपूर्ण कार्य पर पश्चात्ताप करने लगी। उसके दिल में जो जलन थी, वह अब शान्त हो चुकी थी।

राजा ने अपने पुत्रों से मिलने के लिए जाने का निश्चय कर लिया। राजा किस प्रकार अपने पुत्रों से मिलते हैं, यह सब आगे सुनने से ज्ञात होगा।

प्रासंगिक—

भाइयो! परसों से नवपदजी की ओली प्रारंभ होने वाली है। भगवान् ने साधना के क्षेत्र में तपश्चरण को असाधारण महत्त्व प्रदान किया है। कर्मों की निर्जरा का प्रधान कारण तपस्या ही है। तपस्या के बिना कर्म नहीं कटते, कर्म कटे बिना आत्मा में लघुता नहीं आती, लघुता आए बिना उच्चश्रेणी की साधना नहीं होती और उच्चश्रेणी की साधना के बिना मुक्ति नहीं मिलती। इस प्रकार तप मोक्ष का साधन है। तपस्या के प्रभाव से इहलोक भी सुधरता है, परलोक भी सुधरता है और भव-भ्रमण का अन्त भी होता है।

आपको विदित होगा कि श्रीपाल ने नवपदजी की आराधना की थी तो उसके प्रभाव से उनका कुष्ठ रोग नष्ट हो गया था। यद्यपि तपस्या के उद्देश्य विभिन्न लोगों के सामने अलग-अलग हो सकते हैं, तथापि निर्जरा के लिए की जाने वाली तपस्या ही सर्वोत्कृष्ट है। आनुषंगिक रूप में उससे लौकिक अभ्युदय की भी प्राप्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में ऐहिक कामना से तपस्या करना उसके वास्तविक और महान् फल से अपने आपको वंचित करना है।

तपस्या करने का यह उत्तम अवसर आपको मिला है तो इसका अवश्य उपयोग कीजिए। मानवतन पाने की यही सार्थकता है। जो भाई इस सुअवसर से लाभ उठाएँगे, वे अपनी आत्मा का परम कल्याण करेंगे और शाश्वत सुख के अधिकारी होंगे।

असमाधि-निवारण
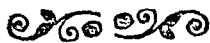
भाइयो !

समवायांगसूत्र का वर्णन पिछले कई दिनों से चल रहा है। उन्नीसवें समवाय का उल्लेख करते हुए श्रीमद् ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा चुका है। तत्पश्चात् बतलाया गया है कि जम्बूद्वीप में सूर्य ऊपर-नीचे उन्नीस सौ योजन क्षेत्र में तपता है। सूर्य के विमान से सौ योजन ऊपर उसका ताप होता है। आठ सौ योजन समतल भूमि तक तो सूर्य का ताप आता है, परन्तु इस समतल भूमि से एक हजार योजन नीचे जो सलिलावती नामक विजय है, वहां तक भी सूर्य का ताप पहुँचता है। इस प्रकार सूर्य विमान से एक सौ योजन ऊपर और अठारस सौ योजन नीचे सूर्य का ताप फैलने के कारण कुल मिलाकर उन्नीस सौ योजन परिमित क्षेत्र को सूर्य तप्त करता है।

तदनन्तर बतलाया गया है कि अठासी ग्रहों में शुक्र नामक जो ग्रह है, वह पश्चिम दिशा से उदित होता है और

उन्नीस नक्षत्रों के साथ भ्रमण करता हुआ पश्चिम दिशा में ही अस्त होता है।

किसी क्षेत्र का विस्तार बतलाते समय 'कला' का कथन आपने सुना होगा। श्रीसमवायांग सूत्र में उसी 'कला' की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि एक योजन के उन्नीसवें भाग को 'कला' कहते हैं।

इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थङ्करों में श्रीमहावीर स्वामी, श्रीपार्श्वनाथ स्वामी, श्रीनेमीनाथ स्वामी, श्रीमल्लीनाथ स्वामी और श्रीवासुपूज्य स्वामी को छोड़कर शेष उन्नीस तीर्थङ्कर अगारवास में रह कर और फिर अनगार बन कर दीक्षित हुए। कहने का आशय यह है कि उन्नीस तीर्थङ्कर राजगद्दी पर आकर और राज्य का उपभोग करके बाद में दीक्षित हुए थे, जब कि पांच तीर्थङ्करों ने कुमारवास से ही दीक्षा अंगीकार की थी अर्थात् वे राजा नहीं हुए।

आगे बतलाया गया है कि रत्नप्रभा नामक पृथिवी में जो नारक जीव निवास करते हैं, उनमें किसी-किसी की उम्र (स्थिति) उन्नीस पल्योपम की है।

रत्नप्रभा प्रथम नरकभूमि है। उसमें कम से कम आयु हजार वर्ष की और अधिक से अधिक एक सागरोपम की है, हजार वर्ष से अधिक और एक सागरोपम से कम की आयु

मध्यम आयु में परिगणित है। मध्यम आयु में अनेक विकल्प हैं और उन्हीं विकल्पों में से एक विकल्प उन्नीस पल्योपम का है।

छठे नरक में किसी-किसी नारक की स्थिति उन्नीस सागरोपम की है।

असुरकुमार जाति के देवों में कोई-कोई देवता उन्नीस पल्योपम की स्थिति वाला है।

प्रथम और द्वितीय देवलोक के वैमानिक देवों में भी किसी-किसी की स्थिति उन्नीस पल्योपम की है।

आनत देवलोक के देवों की उत्कृष्ट स्थिति उन्नीस सागरोपम की कही गई है और प्राणत नामक दसवें देवलोक में जघन्य स्थिति उन्नीस सागरोपम की कही है।

जो देव आनत, प्राणत, मत, विनत, घणक, सुषिर, इन्द्र, इन्द्रकान्त, इन्द्रोत्तरावसंसक नामक विमानों में देव रुप से उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्कृष्ट स्थिति उन्नीस सागरोपम की कही गई है। इन विमानों में उत्पन्न होने वाले देव उन्नीस पक्षों में अर्थात् साढ़े नौ महीनों में एक वार श्वासोच्छ्वास लेते हैं। इन देवों को उन्नीस हजार वर्षों में आहार की इच्छा उत्पन्न होती है।

इस संसार में कोई कोई भव्य जीव ऐसे हैं जो उन्नीस

अब ग्रहण करके सिद्ध होंगे, बुद्ध होंगे और समस्त कर्मों का अन्त करेंगे, परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे।

यहां उन्नीसवां बोल समाप्त होता है और बीसवां बोल आरम्भ होता है। बीसवें बोल को प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार फर्माते हैं कि असमाधि के बीस स्थान हैं। स्थान का अर्थ है- कारण। तात्पर्य यह है कि बीस ऐसे कारण हैं जिनसे बचने का प्रयत्न न किया गया और न बचा गया तो असमाधि उत्पन्न हो जाती है। वह बीस स्थानक इस प्रकार हैं-

(१) जल्दी-जल्दी चलना और देखभाल कर-उपयोग लगा कर न चलना। असमाधि का यह कारण स्पष्ट है। आपको भली-भांति विदित है कि कहीं-कहीं भूमि चिकनी होती है और उस पर असावधान होकर चलने वाले का पैर फिसल जाता है। वह गिर जाता है। गरिने से हड्डी टूट जाने की घटना भी घटित हो जाती है। पैरों में कांटा, कंकर और पत्थर चुभने की संभावना रहती है इन सब बातों से आत्मविराधना होती है। बिना देखे-भाले चलने से अन्य जीवों की विराधना भी होती है। अतएव यह असमाधिस्थान त्यागने योग्य है।

(२) असमाधिका दूसरा कारण बिना पूंजे चलना है। कोई साधु है और साधना कर रहा है। वह अपने लिए न दीपक जलाता है, न जलवाता है। ऐसी स्थिति में यदि वह

रात्रि में बिना पूंजे पैर रखता है तो खतरा रहता है। रास्ते में सांप पड़ा हो, बिच्छू हो और उस पर पांव पड़ जाए तो डँस लेता है। छोटे-मोटे अनेक जीव कुचल जाते हैं। अतएव भगवान् ने फर्माया है कि साधु को दिन में देख कर और रात्रि में पूंज कर ही कदम रखना चाहिए। बिना देखे और बिना पूंजे चलना असमाधि का कारण है।

(३) सम्यक् प्रकार से न पूंजना भी असमाधि का स्थान है। शास्त्र का आदेश पालन करने के लिए किसी ने पूंजा तो सही, मगर कहीं पूंजा और कहीं नहीं पूंजा या ऐसी अविधि से पूंजा कि जीवघात हो गया तो इससे भी असमाधि उत्पन्न होती है। जैसे मकान की कहीं सफाई की गई और कहीं न की गई और जहां नहीं की गई वहां कांच का टुकड़ा पड़ा रह गया, तो वह तुम्हारे अथवा बच्चे के पैर में चुभ जाएगा। इस प्रकार मकान की सफाई करना भी न करने के समान ही हो जाएगा। इसी प्रकार अविधि से पूंजना भी न पूंजने के समान अनर्थकारक होने से असमाधि का कारण है।

(४) मर्यादा से अधिक शय्या और आसन रखना भी असमाधि का स्थान है, आवश्यकता से अधिक कोई भी उपकरण रखना साधु को योग्य नहीं है। अधिक उपकरण लोलुपता के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त उनकी ठीक तरह से प्रमार्जना

नहीं होती और यदि प्रमार्जना कि जाय तो स्वाध्याय और ध्यान में विघ्न होता है। अतएव साधु के लिए यही उत्तम मार्ग है कि संयम में उपकारक उपकरणों के सिवाय निरर्थक शय्या, आसन, पाट, पाटला आदि कोई वस्तु न रक्खे।

(५) पांचवीं असमाधि का स्थान है-रत्नाधिक साधु के समक्ष मर्यादा का उल्लंघन करके बोलना। जो साधु ज्ञान चारित्र गुण में अधिक हों, वे रत्नाधिक कहलाते हैं। छोटे साधुओं का कर्त्तव्य है कि वे अपने से बड़े सन्तों का समुचित आदर-सम्मान करें। उनके समक्ष विनीतभाव से बोलें। कभी भूल करके भी ऐसा व्यवहार न करें। जिससे उनका अनादर होता हो। जो साधु अपने से बड़े साधु का अनादर करता है, वह अपने अनादर की भूमिका का निर्माण करता है।

भाइयो! वि० सं० १९९५ में मैं पंजाब की विदुषी महासती पार्वतीजी को दर्शन देने गया था। उनकी बड़ी शिष्या राजमतीजी उस समय उनके साथ ही थीं। जब उनके प्रवचन करने का अवसर आता था तो वह कहा करती थीं-'गुरुनीजी! आपकी आज्ञा हो तो मैं बोलूँ!' कितना सुन्दर विनय है।

तात्पर्य यह है कि अपने से बड़ों का आदर रखकर बोलना चाहिए, अन्यथा समाधि के बदले असमाधि उत्पन्न हो जाती है।

(६) असमाधि का छठा स्थान है-स्थविर साधु के उपघात

का विचार करना। कोई साधु ज्ञान से वृद्ध हो, उम्र से वृद्ध हो अथवा दीक्षा से वृद्ध हो तो उसकी सेवा में रहकर शान्ति-समाधि उपजाना छोटे साधु का कर्त्तव्य है। यह भी साधु-जीवन की साधना का एक अंग है। इसके विपरीत यदि कोई छोटा साधु वृद्ध (स्थविर) की सेवा करते-करते ऊकता जाय और कहने लगे– 'मरे न पाटा छोड़े' और मन में विचार करे कि यह न जाने कितनी लम्बी आयु लेकर आए हैं–मरने का नाम ही नहीं लेते, तो इस प्रकार का विचार स्थविर के उपघात का विचार है। इस विचार से असमाधि उत्पन्न होती है।

वृद्ध साधु जब गोचरी करने में असमर्थ हो जाता है तो छोटे साधु को ही गोचरी के लिए जाना पड़ता है। वह गृहस्थ के यहां जाकर कहता है–गुरु महाराज विगय के त्यागी हैं, अतः एव दूध, दही, घी वगैरह कुछ नहीं चाहिए। गृहस्थ, स्थविर महाराज की सेवा में आता है और कहता है–धन्य हैं गुरुदेव आप; इस वृद्धावस्था में आपने विगय का परित्याग कर दिया है। गुरु महाराज सोच-विचार में पड़ जाते हैं और शिष्य की कारिस्तानी को समझ लेते हैं। सोचते हैं–अगर मैं विगय के त्याग न करने की बात गृहस्थ से कहता हूं तो साधु का अनादर होता है उसके प्रति अविश्वास उत्पन्न होता है। इस प्रकार सोचकर उन्हें विगय का त्याग करना पड़ता है।

कभी कभी कोई दुराशय शिष्य इसी प्रकार गुरु के संथारा

करने की बात फैला देता है और शासन और संघ के अवर्णवाद से बचने के लिए गुरु को कदाचित् संथारा करने का प्रसंग आ जाता है। इस तरह स्थविर के उपघात का चिन्तन करने से अनेक प्रकार के दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं। वास्तव में स्थविरों की सेवा करना बड़ा कठिन कार्य है। इसके लिए धैर्य की आवश्यकता होती है और साधु में ऐसा धैर्य अवश्य होना चाहिए। शास्त्र में सेवा को भी तपस्या कहा है और सेवा की तपस्या करने वाला बहुत कर्मों की निर्जरा करता है।

(७) असमाधि का सातवां कारण षट्काय के जीवों के घात का विचार करना है। जो कोई भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व के घात का विचार करता है, वह घोर पापकर्मों का उपार्जन करता है। किसी के चाहने मात्र से कोई मरता नहीं है, मगर किसी की मृत्यु की कामना करना अपना जन्म-मरण बढ़ाना है। अतएव विवेकशाली साधक कभी किसी के घात का विचार तक नहीं करता।

(८) क्षण-क्षण में, बात-बात पर क्रोध एवं सदैव क्रुद्ध रहना भी असमाधि का कारण है। जो क्रोधशील है, वह अपने हित की बात को भी सुनकर क्रोध करने लगता है। क्रोध मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है। क्रोध की स्थिति में एक प्रकार का पागलपन आ जाता है, जिसके कारण विवेक विलुप्त हो जाता है और

मनुष्य न करने योग्य निन्द्य से निन्द्य कर्म भी कर डालता है। फिर जो व्यक्ति क्षण-क्षण में क्रोध करता है, उसकी स्थिति तो और भी विषम हो जाती है। उसे कोई हित की बात भी नहीं कहता। वह सबकी अप्रीति का पात्र बन जाता है। उसके चित्त में शान्ति नहीं ठहर पाती। वह क्रोध की आग में झुलसता ही रहता है अतएव क्षण-क्षण में क्रोध करना असमाधि का स्थान है। कहा भी है—

> क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः, रुष्टस्तुष्टः क्षणे क्षणे।
> अव्यवस्थितचित्तानां, प्रसादोऽपि भयंकरः॥

किसी-किसी की प्रकृति अनोखी होती है! किसी ने कुछ भी कह दिया कि पारा चढ़ गया, आगबबूला हो उठे! और जब स्वार्थ की बात हुई तो क्षण भर में प्रसन्न भी हो गए। ऐसे चंचलचित्त पुरुष का रोष भी भयकर और तोष भी भयकर होता है।

क्रोधशील व्यक्ति से सौ गज दूर रहना ही श्रेयस्कर है। उसे कभी छेड़ना नहीं चाहिए। कीचड़ में पत्थर फैंकने से फैंकने वाले के वस्त्र ही गंदे होते हैं। इसी प्रकार क्रोधी मनुष्य को अगर छेड़ोगे तो अपशब्द ही सुनने को मिलेंगे। अतएव कदाचित् क्रोधी मनुष्य को उपदेश देने का प्रसंग आवे तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार करके ही उपदेश करना चाहिए। प्रत्येक

व्यक्ति को और विशेषतया साधक को क्रोध से बचना चाहिए और प्रतिकूल से प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्रोध को प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

(१०) दसवां असमाधिस्थान है-परोक्ष में अवर्णवाद करना। कोई व्यक्ति सामने तो किसी की निन्दा नहीं करता परन्तु पीठ पीछे अच्छे से अच्छे आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, स्थविर आदि की भी बुराई किए बिना नहीं रहता। यह असमाधि का कारण है। सिद्धान्त में स्पष्ट रुप से कह दिया है कि परोक्ष में किसी की निन्दा करना अपनी आत्मा को मलीन बनाना है। नीतिकार ऐसा करने को पृष्ठमांस खाना कहते हैं। यह लौकिक दृष्टि से भी अत्यन्त गर्हित, अपयश का कारण और शत्रु बढ़ाने वाला कार्य है।

निन्दा को अठारह पापस्थानों में गिना गया है। निन्दक व्यक्ति को परनिन्दा करने से कोई लाभ नहीं होता, फिर भी कई लोग कुटेव के वश होकर निन्दा करते हैं। निन्दा का एक कारण ईर्षा है। दूसरे की कीर्त्ति जब सहन नहीं होती तो मनुष्य अपने हृदय की क्षणिक सान्त्वना देने के लिए उसकी निन्दा का आश्रय लेता है। परन्तु सुनने वाले समझ लेते हैं कि इसका हृदय तुच्छ है और इसमें सौजन्य भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि निन्दा से निन्दक की अपकीर्त्ति बढ़ती है। अतएव असमाधि के इस स्थान का परित्याग करना ही उचित है।

(११) ग्यारहवां असमाधिस्थान है-वारम्बार निश्चयकारी भाषा का प्रयोग करना। कोई व्यक्ति कहता है-ऐसा अवश्य हो जाएगा। मैं दावे के साथ कहता हूं कि यदि इस प्रकार काम करोगे तो अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी। दो-चार दिन में वर्षा अवश्य होगी, इत्यादि। परन्तु विशिष्ट ज्ञान के अभाव में इस प्रकार की भविष्यवाणी करना एक प्रकार की धृष्टता है। जब भविष्यवाणी सत्य नहीं होती तो यह असमाधि का कारण हो जाता है। इसी कारण शास्त्र में कहा गया है कि साधु को विचार किये बिना भाषण नहीं करना चाहिए और विचार करके भाषण करते समय भी भविष्यत्-सम्बन्धी निश्चयकारिणी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(१२-१३) बारहवां और तेरहवां असमाधिस्थान है-नवीन क्लेश उत्पन्न करना और पुराने क्लेश को जगाना। मान लीजिए एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ सम्पर्क हो गया और दोनों में घनिष्ठ प्रेम हो गया। मगर एक तीसरे मनुष्य को उनका प्रेम कांटे की तरह चुभने लगा। वह इस फिराक में रहने लगा कि किसी प्रकार इन दोनों के प्रेम को नष्ट कर दिया जाए। वह सोचता है-जब दोनों बैठे होंगे तो मैं ऐसी बात छेड़ दूंगा कि उनमें लड़ाई हो जाए। समय पाकर वह अपने विचार को मूर्त्त रूप देता है और उनमें आपस में क्लेश उत्पन्न कर देता है। ऐसा करना स्वयं उसके लिए भी असमाधि का स्थान बन जाता है।

संसार में जितने झगड़े होते हैं, उनमें बहुतों में ऐसे लोगों का हाथ होता है। जब लोगों में आपस में प्रेम की गंगा बह रही होती है, उस समय कोई नारदप्रकृति का व्यक्ति बीच में ऐसी बात छेड़ देता है कि जिससे क्लेश का वायुमंडल निर्मित हो जाता है।

नारद के विषय में आप सुन ही चुके हैं। जहां संघर्ष न हो वहां संघर्ष उत्पन्न कर देना नारद की सहज प्रकृति है और जैसी प्रकृति वैसी ही प्रवृत्ति होती है। पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न होने से असमाधि का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। थोड़ी देर के मजे के लिए किसी को लड़ा देना सज्जन का काम नहीं है। यह एक प्रकार की आसुरी प्रकृति है, सत्पुरुष आग नहीं लगाते। यही नहीं वे, जलती हुई आग को बुझाने का प्रयत्न करते हैं। अगर कहीं क्लेश उत्पन्न हो गया है तो उसकी उपशान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए, यह नहीं कि जलती आग में घृत की आहुति डाली जाय। अभिप्राय यह है कि जिसके जीवन में भद्रता है, वह न तो नूतन क्लेश को उत्पन्न करता है और न पूर्वोत्पन्न क्लेश को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। उसकी समग्र शक्तियां शान्ति की स्थापना में संलग्न हो जाती हैं।

आज हमारे समाज में क्लेश की आग भड़काने वालों की कमी नहीं है। समाज और शासन के उत्थान के लिए अगर कोई योजना कार्यान्वित की जाती है तो कई-एक विघ्नसंतोषी जन

सामने आ जाते हैं और किसी न किसी नाम पर ऐसा क्लेश उत्पन्न कर देते हैं कि सब गुड़ गोबर हो जाता है। जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है तो सारे समाज में असमाधि की उग्र लहरें उठने लगती हैं और संघ एवं धर्म के अभ्युदय के लिए किये गए प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होते हैं।

कोई-कोई लोग ऐसे भी होते हैं कि कोई नयी बात हाथ नहीं आती तो किसी पुरानी बात को खोज निकालते हैं और जीवन में असमाधि उत्पन्न करते हैं। पूज्य मन्नालालजी म० किसी साधु के विषय में कुछ सुन लेते और उसे दण्ड-प्रायश्चित्त दे देते तो फिर उस पुरानी बात को कभी मुँख पर भी नहीं लाते थे।

भाइयो ! जिस क्लेश की लपटें शान्त हो चुकी हैं, उन्हें फिर से प्रज्वलित करने की चेष्टा मत करो। बन सके तो क्लेश की धधकती हुई धूनी को शान्त करने का प्रयत्न करो। न बन सके तो चुप रहो, मगर उपशान्त क्लेश की उदीरणा तो हर्गिज न करो। ऐसा करने से समस्त संघ में असमाधि उत्पन्न होती है और तुम भी उसके कटुक विपाक से बच नहीं सकते।

(१४) साधु सचित्त रज से भरे हाथों-पैरों को बिना पूंजे यदि आसन आदि पर बैठ जाता है या उन्हें काम में लेता है तो वह उसके लिए असमाधि का कारण है। ऐसा करने से जीवों का घात होता है और साधु जीवन की मर्यादा भंग हो जाती है।

(१५) अकाल में स्वाध्याय करना भी असमाधि का स्थान है। शास्त्रों में स्वाध्याय का समय निश्चित कर दिया गया है और विशेष-विशेष अवसरों पर होने वाले अस्वाध्याय कारणों का भी उल्लेख कर दिया गया है। इसका उल्लंघन करके अकाल में स्वाध्याय करने वाले को असमाधि उत्पन्न होती है। जिनाज्ञा का उल्लंघन करना ही असमाधि का कारण है, फिर अकाल में स्वाध्याय करने से दैवी प्रकोप आदि की भी संभावना रहती है। गुरु महाराज ने अपनी कविता में असज्झाय के कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है—

(कवित्त)

तारो टूटे राती दिसा अकाले में गाजे बीजे,
कड़के अपार तथा भूमि कंपे भारी है।
बालचन्द जक्खचिह्न आकाश अगनिकाय,
काली धोली धुंध और रजघात न्यारी है।
हाड़ मांस लोही राध स्थंडिल मसाण जले,
चन्द्र सूर्य ग्रहण और राजमृत्यु टारी हैं।
स्थानक में पड़ो मडो पंचिन्द्रिय को कलेवर,
बीस बोल टाली मुनि ज्ञानी आज्ञा पारी है॥

(दोहा)

असाढ, भादवो, आसोज, काती, चेती पूनम जाण।

इण पांचों ही मास की, पडवा पांच बखाण ॥ १ ॥
दुपहरा आधी रात ने, सामी सांझ सवेर।
चौतीस असज्झाय टालने, सूतर गणिये फेर ॥ २ ॥

अर्थात्-तारा टूटने के समय एक प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। जिस समय दिशा लाल हो-सूर्यास्त और सूर्योदय के समय-तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अकाल में गर्जना होने पर एक प्रहर तक स्वाध्याय वर्जनीय है। बिजली की कड़क के समय भी स्वाध्याय एक प्रहर तक वर्जित है। भूमिकम्पन के समय, बालचन्द्र के समय यक्षचिह्न के समय, आकाश से अग्निवर्षा होने के समय, और जब धुंध पड़ रही हो उस समय भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार रजोघात हो और सूर्य न दिखाई देता हो, चन्द्रग्रहण हो, सूर्यग्रहण हो तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अगर सौ हाथ के भीतर हाड़, मांस, राध, रुधिर जैसी कोई अशुचि वस्तु पड़ी हो तब भी स्वाध्याय करना योग्य नहीं। श्मशान में तथा स्थानक में पंचेन्द्रिय जीव का कलेवर पड़ा होने पर भी स्वाध्याय करने का निषेध है। साधु जिस नगर में ठहरा हो वहां का राजा मर जाय तो जब तक दूसरा राजा गादी पर न बैठे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। आषाढ़, भाद्रपद, आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा और इनके पश्चात् आने वाली प्रतिपद् को भी स्वाध्याय

करना विहित नहीं है। दोपहर, अर्धरात्रि तथा प्रातःकाल होते भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

विस्तारभय से यहां अस्वाध्याय के सम्बन्ध में विशेष विवेचन नहीं किया जा सकता। यह सब विषय अन्यत्र प्रसिद्ध है। जिज्ञासु जन वहां देखकर शास्त्रों की मर्यादा का अनुसार ही स्वाध्याय करेंगे तो इनके लिए असमाधि का कारण नहीं होगा।

(१६) सोलहवां असमाधिस्थान कलह करना है। जो साधक कलहकारी होता है और जिसके चित्त में खटपट करने के विचार ही चक्कर लगाते रहते हैं, वह शान्तभाव से न स्वाध्याय कर सकता है, न ध्यान में आरूढ़ हो सकता है और न संयम के गुणों में वृद्धि कर सकता है कलह अशान्ति का घर है, अतएव समाधि की अभिलाषा करने वाले को कलह का परित्याग करना चाहिए।

(१७) एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने के पश्चात् जोर-जोर से बोलना भी असमाधि का कारण है, इससे दूसरों की निद्रा टूट जाती है और असमाधि होती है।

(१८) गच्छ में भेद उत्पन्न करने वाला कार्य करना। ऐसी कोई बात कह देना कि जिससे गुरु शिष्य से और शिष्य गुरु से विमुख हो जाए, दोनों में फूट पड़ जाए अथवा गच्छ के टुकड़े हो जाएँ, यह असमाधि कारण है।

(१९) सूर्योदय से लगाकर सूर्यास्त तक आहार करते रहना अर्थात् नवकारसी, पौरुषी आदि भी न करना असमाधि का कारण है। साधक जीवन तपोमय होना चाहिए। यदि उग्र तपस्या न हो सके तो भी प्रतिदिन नवकारसी जैसी हल्की तपस्या तो करनी ही चाहिए।

(२०) बीसवां असमाधि का कारण है-गवेपणा किये बिना आहार-पानी ग्रहण करना। शास्त्र में आहार-पानी की गवेपणा करके निर्दोष ही ग्रहण करने का विधान किया गया है। जो इस विधान के विरुद्ध बिना गवेपणा किये बिना ही आहार-पानी ग्रहण कर लेता है, वह असमाधि का पात्र बनता है।

इस प्रकार बीसवां समवाय आपके समक्ष आ रहा है। इसे समीचीन रुप से समझ कर जो अपने जीवन को समाधिमय बनाते हैं, वे इहलोक में और परलोक में अखण्ड शान्ति प्राप्त करते हैं।

अमरसेन-वीरसेन चरित—

यही बात सुन्दर चरित के द्वारा आपके समक्ष प्रस्तुत की जा रही है।

भाइयो ! कल बतलाया गया था कि चिरकाल से बिछुड़े हुए दोनों भाई किस प्रकार अचानक मिले ? किस प्रकार वेश्या

गधेड़ी से पुनः मनुष्यनी बनी ? दोनों भाइयों ने अपने माता-पिता को आमंत्रित करने के लिए दूत प्रेषित किया।

दूत ने राजा जयसेन के दरबार में पहुँच कर वीरसेन का पत्र जब समर्पित किया तो जयसेन हर्ष के झूले में झूलने लगा। उसे यह जानकर कि मेरे दोनों पुत्र जीवित हैं और सुखमय स्थिति में हैं, अपार आनन्द हुआ। उसने दूत से प्रश्न किया-राजा सकुशल तो हैं ?

दूत ने उत्तर दिया-महाराज! वे दोनों भाई अतीव सौभाग्यशाली हैं और बड़े आनन्द के साथ राज्य का संचालन कर रहे हैं।

जयसेन ने कहा-उन्हें राज्य का लाभ किस प्रकार हुआ ?

दूत बोला-महाराज! जब राजा वीरसेन सिंहलपुर पहुँचे तो सरोवर की पाल पर सोये हुए थे। संयोगवश वहां के राजा अचानक बीमार होकर मर गये। राजगादी के लिए उनके परिवार में झगड़ा होने लगा तो हमारे दीवान ने अत्यन्त दीर्घदर्शिता से काम लिया और यह निश्चय किया कि राज्य का प्रधान हस्ती जिसके गले में माला डाल दे वही राज्य का अधिकारी माना जाए। इस निश्चय को सभी ने स्वीकार किया। तदनुसार हाथी की सूंड में एक उत्कृष्ट माला दे दी गई। वह दृश्य बड़ा ही अद्भुत था और आज भी मेरे नेत्रों में झूल रहा है। न जाने कितने मनचले

लोग इस प्रतीक्षा में थे कि हाथी राजा के रुप में हमारा ही वरण करेगा, परन्तु उसने उन सब की आशाओं पर पानी फेर दिया। हस्ती नगर से बाहर निकलकर सरोवर की पाल पर पहुंचा। लोगों की भीड़ उसके पीछे-पीछे चल रही थी। हल्लागुल्ला सुनकर कुमार की निद्रा भंग हुई और वह उठकर एक ओर जाने लगे। परन्तु दीवान ने उनसे कहा-गजराज से डरने की आवश्यकता नहीं वह आपको कोई हानि नहीं पहुंचाएगा। तब वह अपने स्थान पर स्थिर हो गए और उसी समय हाथी ने उनके निकट पहुंच कर उन्हें माला पहना दी। गले में माला पड़ते ही 'महाराज की जय' की गगनभेदी ध्वनि गूंज उठी। तत्पश्चात् राजप्रासाद में पहुंचने पर उनका यथाविधि राज्याभिषेक किया गया। उन्होंने प्रजा का मन हरण कर लिया है और अत्यन्त निपुणता के साथ राज्य का संचालन कर रहे हैं।

इस प्रकार वीरसेन का पूर्ववृत्तान्त वतलाकर दूत ने अमरसेन का भी यथाज्ञात वृत्तान्त सुनाया। उसने दोनों भाइयों के मिलन की घटना हृदयद्रावक शब्दों में चित्रित की। अन्त में कहा-दोनों भाई सकुशल और सानन्द राज्य का संचालन कर रहे हैं और आपके दर्शन के अभिलाषी हैं। इसी उद्देश्य से मुझे आपके चरणों में प्रेषित किया है। आप अनुग्रह करें और शीघ्र पधार कर एवं दर्शन देकर महाराज वीरसेन और अमरसेन की कामना पूर्ण करें, उनके नेत्रों की पिपासा को शान्त करें।

दूत के मुख से अपने पुण्यशाली पुत्रों का वृत्तान्त सुनकर राजा जयसेन को असीम आनन्द हुआ, मगर एक ही क्षण में अतीत की घटना उनकी आंखों के आगे तैरने लगी। उनके चेहरे का रंग बदल गया। वह सोचने लगे—महारानी के कहने में आकर मैंने गजब कर डाला! मैंने अपनी ओर से कोई कसर नहीं रक्खी थी, इन्हें इस दुनियां से विदा कर देने की व्यवस्था कर दी थी, परन्तु उनका पुण्य बड़ा ही जबर्दस्त था। वे जीवित ही नहीं बच गए वरन् राज्य के अधिकारी भी हो गए। सच है, भाग्य जिसकी रक्षा करता है, उसका कोई बाल बांका नहीं कर सकता। मगर मनुष्य को आगा-पीछा सोचकर ही काम करना चाहिए। अगर मैंने उस समय विवेक से काम लिया होता तो आज पश्चात्ताप करने और लज्जित होने का अवसर क्यों आता?

राजा जयसेन ने शीघ्र ही सँभल कर दूत का यथोचित सत्कार किया। दूसरे दिन उसे पत्र लिख कर दे दिया जिसमें मिलने के लिए रवाना होने का समाचार लिखा गया था और साथ ही मन की वेदना का भी उल्लेख था। तत्पश्चात् पर्याप्त पुरस्कार देकर दूत को रवाना कर दिया।

दूत प्रस्थान करके यथा समय सिंहलपुर पहुंचा। उसने महाराज जयसेन का पत्र राजा वीरसेन की सेवा में उपस्थित कर

दिया। पत्र पढ़ कर और अपने पिता के आगमन का वृत्तान्त जान कर वीरसेन और अमरसेन अत्यन्त प्रसन्न हुए। राजोचित स्वागत-सत्कार की तैयारियां होने लगीं, नगर सजाया जाने लगा। घर-घर के द्वार पर तोरण बांधे जाने लगे। अपने पिता के नगर प्रवेश के लिए निमित्तज्ञों से शुभ मुहूर्त्त पुछवाया गया।

उधर नियत समय पर महाराज जयसेन और महारानी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ सिंहलपुर के लिए रवाना हुए और कुछ ही दिनों में अपने लक्ष्यस्थान पर सिंहलपुर के समीप पहुँच गए।

महाराज वीरसेन अपने माता-पिता को सन्निकट आया जान कर उनके भव्य स्वागत के लिए सेना के साथ सामने गए।

भाइयो! उस दृश्य की कल्पना कीजिए और सोचिए कि कैसी परिस्थितियों के पश्चात् माता-पिता का पुत्रों के साथ मिलाप होने जा रहा है। बड़ा ही सुहावना और भावमय रहा होगा वह दृश्य! एक ओर से महाराज जयसेन अपने पुत्रों को–जिनकी वह अपनी समझ से घात करवा चुके थे परन्तु जो पुण्योदय से राज्य के अधिकारी बन गए–देखने जा रहे हैं और दूसरी ओर वीरसेन एवं अमरसेन अपने माता-पिता को देखने जा रहे हैं। जब दोनों सन्निकट आए तो आपस में नेत्र टकराए। उन नेत्रों में से अमृत छलक रहा था। समीप पहुँचने पर वीरसेन और

अमरसेन सवारी से नीचे उतर गए। पैदल जाकर जयसेन के चरणों में गिरे। पिता उस समय गद्गद हो उठे। भावविभोर होकर उन्होंने अपने भाग्यशाली पुत्रों को अपनी छाती से चिपटा लिया, मानों कलेजे के भीतर छिपा लेना चाहते हों ?

दर्शकगण इस वात्सल्यमय प्रसंग को देख कर प्रसन्न हो रहे थे। लोग कहने लगे—आज वास्तव में सोने का सूरज उगा है। चिरकाल के बिछुड़े हुए पिता-पुत्र आज हर्ष के क्षणों में मिल रहे हैं।

इस प्रकार पारस्परिक मिलन के पश्चात् माता-पिता और दोनों भाई पुनः गजराज पर आरूढ़ होकर वाद्यों के मधुर एवं तुमुल निर्घोष के साथ, जुलूस के रूप में, नगर के प्रधान मार्गों में घूमते हुए राजभवन में प्रविष्ट हुए। नगर में स्थान-स्थान पर प्रजा ने उन सब का स्वागत किया।

जनता ने विचार किया—हमारे महाराजा के माता-पिता हमारे भी माता-पिता के समान हैं, अतएव उनकी सेवा में भेंट ले जाना हमारा कर्त्तव्य है। इस प्रकार विचार कर दूसरे दिन अनेक नागरिक भेंट लेकर दरबार में पहुंचे और बोले—अन्नदाता ! हम आपकी प्रजा हैं हमारी यह तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए।

राजा वीरसेन ने आगत नागरिकों का यथायोग्य स्वागत किया और सब से प्रेमालाप करके उन्हें विदा किया।

महाराज जयसेन कई दिनों तक वहां रहे और जब तक रहे तब तक प्रतिदिन आनन्दोत्सव मनाया जाता रहा। दोनों भाई अपने माता-पिता को सदैव प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते रहे और इस बात का ध्यान रखते रहे कि उन्हें किसी भी प्रकार की असुविधा न हो।

यद्यपि वीरसेन और अमरसेन के किसी भी व्यवहार से यह ध्वनित नहीं होता था कि उस पुरानी भयानक घटना की स्मृति उनके हृदय में आज भी विद्यमान है तथापि घटना ऐसी विकट थी कि वास्तव में वह विस्मृत नहीं की जा सकती थी। अपने पुत्रों का अधिक से अधिक निष्कपट सद्व्यवहार देखकर महाराज जयसेन को अपनी पुरातन विवेकहीन करतूत क्षण-क्षण में याद आ रही थी और भीतर ही भीतर वह कांटे की तरह साल रही थी। उनके पश्चात्ताप का पार नहीं था। वह सोचते थे-मुझ पुत्रघातक पिता के प्रति इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करने वाले यह दोनों बालक वास्तव में लोकोत्तर पुरुष हैं। जान पड़ता है, पूर्वभव में यह महान् क्षमा के धारक कोई योगी रहे होंगे, जो शत्रु और मित्र पर समान भाव रखते हैं।

तो राजा जयसेन के मन में यह विचार बहुत दिनों तक घुटता रहा। एक दिन, जब अपनी घुटन को दबा न सके तो दोनों पुत्रों के सामने बोले-प्यारे पुत्रों! जो बात कई दिनों से

कहना चाहता था, मगर कहने का सहास नहीं होता था, उसे आज कह डालना चाहता हूं। उसे कहे बिना हृदय हल्का न होगा और न मस्तिष्क का बोझ कम होगा। तुम लोगों ने हमारे प्रति सहज श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित करके यह सिद्ध कर दिया है कि तुम कोई असाधारण मनुष्य हो। अन्यथा मुझ जैसे कठोर हृदय, नृशंस और नराधम पिता की ओर घृणा पूर्ण नेत्रों से देखते और अपने प्रति किये व्यवहार का कठोर बदला लेते। मगर तुम तो जैसे उस घटना को भूल ही गए हो। पुत्रों! तुम धन्य हो! इस मही के महामूल्य मंडन हो। पुत्रों! उस घटना के लिए मैं नहीं, मेरा अविवेक ही उत्तरदायी है। तुम्हारी माता के कथन पर विश्वास करके मैंने वह जघन्य कृत्य कर डाला था। इसके लिए मुझे कितना पश्चात्ताप है, कह नहीं सकता। मैं जीवन पर्यन्त पश्चात्ताप की भट्ठी में जलता रहूँगा।

वीरसेन और अमरसेन अपने पिता के हार्दिक दुःख और पश्चात्ताप से युक्त वचन सुनकर हाथ जोड़ कर कहने लगे—पूज्य पिताजी! आप उस घटना को विस्मरण ही कर दीजिए। अगर वह घटना घटित न हुई होती तो हमें इस नवीन राज्य की प्राप्ति किस प्रकार हुई होती? परिणाम में वह घटना सुखद ही सिद्ध हुई, इसके अतिरिक्त जीव को जो भी सुख अथवा दुःख होता है, वह उसी के कृत कर्मों का परिपाक होता है। दूसरा कोई व्यक्ति अथवा पदार्थ निमित्त मात्र हैं। अज्ञानी जन अपने दुःख और

संकट के लिए दूसरों को उत्तरदायी मान कर उनके प्रति क्रोध या द्वेष करते हैं और पुनः अशुभ कर्मों का बन्धन कर लेते हैं। मगर सच्चे वस्तुस्वरूप के ज्ञाता ऐसा नहीं करते। वे प्रत्येक दुःख का उत्तरदायित्व स्वयं अपने सिर पर लेते हैं, अतएव नवीन कर्म बन्ध से बच जाते हैं। उन्हें एक प्रकार की सान्त्वना भी प्राप्त रहती है।

भाइयो ! जगत् में अनेक प्रकार की घटनाएँ घटित होती रहती हैं, परन्तु उनमें से सभी लोग एक-सा निष्कर्ष नहीं निकालते। जिसकी जैसी बुद्धि होती है, वह वैसा ही निष्कर्ष निकाल लेता है। आकाश से बरसने वाला जल सर्वत्र समान बरसता है, परन्तु विभिन्न प्रकार की भूमियों में पहुँच कर वह खारा-मीठा आदि अनेक रूप धारण कर लेता है।

वक्ता एक बात कहता है, श्रोता अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उसे अनेक रूप में ग्रहण करते हैं। उनकी बुद्धि के सांचे में ढल कर एक ही बात भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती है। जैसे-जैसे परिणमाने वाले होते हैं; बात वैसी सी परिणत हो जाती है।

वीरसेन और अमरसेन सुसंस्कृत भावना वाले और विवेकवान् थे, अतएव उन्होंने उक्त घटना को भी अच्छे रूप में परिणत कर लिया। उन्होंने वेदनाभि-भूत पिता से कहा-पिताजी !

आप तनिक भी संताप न कीजिए। वह घटना हमारे कल्याण के लिए ही घटित हुई थी, उन चण्डालों का भी भला हो जिन्होंने दया करके हमें जीवित रहने दिया।

जयसेन ने कहा—बेटा! तुम धन्य हो जो अपने क्रूर-हृदय पिता के प्रति भी इस प्रकार की सद्भावना रखते हो और उच्च-कोटि का तत्त्वविचार करते हो। यदि कोई हानि न हो तो मैं संक्षेप में उस वृत्तान्त को सुनना चाहता हूं।

वीरसेन बोला—पिताजी! चाण्डालों की दयालुता के कारण जिन्दा बचकर हम जंगल की ओर चल पड़े। रात में विश्राम करने के लिए एक वृक्ष के नीचे ठहरे। उस वृक्ष पर तोता-तोती का जोड़ा रहता था। उन्होंने दया करके हमें दो गुठलियां लाकर दीं। उन गुठलियों का अद्भुत प्रभाव था। एक को खाने वाला सात दिन में राजा बनता था और दूसरी को खाने वाला प्रतिदिन कुल्ला करते ही पांच सौ मोहरें उगलने लगता था। उनमें से एक गुठली मैंने और दूसरी गुठली भाई ने खा ली। प्रातःकाल होने पर वहां से आगे चले तो एक देवता को हम पर दया आ गई और उसने हमें सिंहलपुर की सरहद पर छोड़ दिया। भला हो उन पक्षियों का और उस देवता का।

इसके बाद की मुख्य बातें आपको विदित ही हैं। यह सब आपकी कृपा का फल है। कि हम इस दर्जे पर पहुँच सके हैं।

इस प्रकार कह कर वीरसेन और अमरसेन ने जयसेन के शल्य को दूर करने का प्रयत्न किया और अपनी महानुभावता को प्रकट किया। अन्दर का सारा मैल धुल गया और आनन्दपूर्वक समय व्यतीत होने लगा।

इस प्रकार कुछ काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् उस नगर में आचार्य सुमतिसागरजी का शुभागमन हुआ। वे नगर के बाहर एक उद्यान में यथोचित अवग्रह ग्रहण करके ठहरे। जब राजमहल में यह संवाद पहुँचा तो राजा वीरसेन, अमरसेन उनके पिता जयसेन और महारानी सब सजधज कर मुनिराज के दर्शन के लिए गए। नगर की जनता भी बड़ी संख्या में उपस्थित हुई।

आचार्य श्री ने आगत श्रद्धालु जनों को धर्मोपदेश सुनाया, उपदेश सुनकर श्रोता अत्यन्त प्रभावित हुए। श्रोताजन उपदेश श्रवण करके और आचार्य को वन्दना-नमस्कार करके अपनी-अपनी जगह चले गए। तत्पश्चात् वीरसेन और अमरसेन आचार्य के चरणों में उपस्थित हुए और हाथ जोड़ कर निवेदन करने लगे-महाराज! हमारे पुण्य का उदय था और आयुष्य लम्बा था, अतएव मरण का कारण उपस्थित होने पर भी हम बच गए और राज्य के अधिकारी हो गए। किन्तु मरण से सदा के लिए पिण्ड छूटना तो संभव नहीं है। आज नहीं तो कल

वह अवश्य आएगी और इस शरीर को त्यागना पड़ेगा। जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में मृत्यु आने से पूर्व ही धर्म की कमाई कर लेनी चाहिए। वह न की तो जीवन निरर्थक है। ऐसा सोचकर हम संयम पालन करना चाहते हैं। माता-पिता की अनुमति प्राप्त करके आपके श्रीचरणों में प्रव्रज्या ग्रहण करने की हमारी अभिलाषा है।

यह सुन कर आचार्य सुमतिसागर महाराज बोले-जैसे तुम्हें सुख उपजे, वैसा करो, मगर धर्म कार्य में समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

तदनन्तर दोनों भाई आचार्य को वन्दन-नमस्कार करके सीधे राजमहल में पहुंचे। माता-पिता के समीप जाकर उन्होंने अपनी भावना उनके समक्ष प्रकट करते हुए कहा-माताजी और पिताजी! प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दीजिए कि अब हम दोनों भाई संयम और तप की आराधना करके आत्म-कल्याण के पथ के पथिक बनें। पूर्वभव में जो पुण्य उपार्जित किया था, उसका फल इस जन्म में भोगा है। अब आगे के लिए भी कुछ पूंजी पल्ले में बांधनी है। हमने संसार का अनुभव कर लिया है और इसमें कुछ सार नजर नहीं आया। आत्म-कल्याण ही इस जीवन का सर्वोत्तम सार है और उसी को हम प्राप्त करना चाहते हैं। हम धर्म की साधना करके आत्मा के बन्धनों को काटने का प्रयत्न करेंगे।

भाइयो ! जिसकी अन्तरात्मा वैराग्य के रंग में रंग जाती है, जिसे भोगोपभोग भुजंग के समान प्रतीत होने लगते हैं, इन्द्रियों के विषय विष के समान भयंकर जान पड़ते हैं और जिसके अन्तरात्मा का नाद प्रबल हो उठता है, वह किसी भी स्थिति में रुक नहीं सकता। ताले में बंद कर देने पर भी वह भाग निकलता है और जिसे नहीं जाना है उसे कितना ही समझाओ; परन्तु वह साधु बनने को तैयार नहीं होता।

वीरसेन और कुसुमसेन की आत्मा में एक अपूर्व ज्योति जागृत हो चुकी थी, वे संसार रूपी कीचड़ में कब फँसने वाले थे। अतएव माता-पिता के बहुत समझाने, आग्रह एवं अनुरोध करने पर भी वे मानने वाले नहीं थे। आखिर माता-पिता को अनुमति देनी पड़ी और युगल भ्राता अपना राजपाट उन्हें सौंप कर मुनि बन गए। मुनिधर्म अंगीकार करने के पश्चात् उन्होंने ऐसा प्रचण्ड पराक्रम किया और ऐसी उत्कृष्ट करनी की कि चार घनघातिया कर्मों का समूल उच्छेदन करके केवल दर्शन प्राप्त कर लिया।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाने के बाद वीरसेन और कुसुमसेन धर्मोपदेष्टा के रूप में इस महीमण्डल पर विचरण करते हुए भव्य प्राणियों के कल्याण का पथ प्रदर्शित करने लगे। कुछ समय तक इस प्रकार विचरण करके अन्तिम समय में एक मास की संलेखना की और मोक्ष प्राप्त कर लिया।

भाइयो ! इस आदर्श चरित का पद्यमय निर्माण स्व० गुरुदेव पूज्य खूबचन्दजी म० ने मन्दसौर-चातुर्मास के समय किया था। इस चरित में अनेक सुन्दर शिक्षाएँ संगृहीत हैं। उनसे आपको लाभ उठाना चाहिए।

प्रासंगिक—

भाइयो ! कल से नवपदजी की ओली प्रारम्भ हो रही है। यद्यपि इस ओर इसका प्रचार अधिक नहीं है तथापि गुजरात एवं बम्बई आदि प्रदेशों में यह तप बड़े ऊँचे ढङ्ग से मनाया जाता है। कोई-कोई लोग नौ दिनों तक आयंबिल करते हैं, कोई शक्ति के अनुसार कम भी करते हैं। आयंबिल में बीस मालाएँ फेरी जाती हैं, श्रीपाल राजा ने यह तप किया था। इस तपस्या की आराधना करने वाले के घर में सब प्रकार का आनन्द हो जाता है। विवेकपूर्वक की जाने वाली तपस्या हर तरह से कल्याणकर है। अतएव आप अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या करेंगे तो आपका भी कल्याण होगा आत्मिक समाधि प्राप्त होगी।

कैन्टोनमेंट बैंगलोर
७-१०-५६

ओली तप

(१)

भाइयो ! श्रीमत्समवायांग सूत्र का वर्णन आपको सुनाया जा रहा है। कल बीसवें समवाय के असमाधिस्थानों का विवरण आपको बतलाया था। उनका आप ध्यान रक्खेंगे तो आपके लिए असमाधि का कोई कारण नहीं होगा।

इसके पश्चात् बतलाया गया है कि बीसवें तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रतनाथ की काया बीस धनुष ऊँची थी।

फिर कहा है कि सातवें नरक के नीचे जो घनोदधि है, उसकी जाड़ाई बीस हजार योजन की है।

दसवें प्राणत नामक देवलोक के प्राणत इन्द्र के बीस हजार सामानिक देव हैं।

नपुंसकवेदनीय कर्म की बन्धस्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की कही गई है।

बारहवें दृष्टिवाद नामक अंग के अन्तर्गत, चौदह पूर्व हैं, उनमें नौवां प्रत्याख्यानपूर्व है। इस पूर्व में बीस वस्तु हैं अर्थात्

बीस बड़े बड़े विभाग हैं। एक-एक वस्तु में कई-कई अध्ययनों का समावेश हो जाता है।

एक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी को मिलाने से बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। अर्थात् एक उत्सर्पिणी में दस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम होते हैं और इसी प्रकार अवसर्पिणी में भी। दोनों मिल कर बीस कोड़ा-कोड़ी परिमित काल होता है। इसी को काल चक्र कहते हैं।

रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में कोई-कोई नारक ऐसे हैं जिनकी आयु बीस पल्योपम की होती है।

असुरकुमार जाति के देवों में भी किसी-किसी की स्थिति बीस पल्योपम की है।

प्रथम और द्वितीय देवलोक में किसी-किसी देव की स्थिति बीस पल्योपम की है।

प्राणत देवलोक में देवों की उत्कृष्ट स्थिति बीस सागरोपम की होती है और आरण देवलोक के देवों की जघन्य स्थिति बीस सागरोपम की है।

दसवें प्राणत देवलोक में सात, विसात, सिद्धार्थ, उत्पल, भित्तिल, तिगिच्छ, दिशा, सौवस्तिक, पल, रुचिर, पुष्प, सुपुष्प, पुष्पावर्त्त, पुष्पप्रभ, पुष्पकान्त, पुष्पवर्ण, पुष्पलेश्य, पुष्पध्वज,

पुष्पसिद्ध तथा पुष्पोत्तरावतंसक नामक विमानों में देवरूप से उत्पन्न होने वाले देवों की उत्कृष्ट स्थिति बीस सागरोपम की कही गई है। वे देवता बीस पक्षों (दस महीनों) में श्वासोच्छ्वास लेते हैं। उन्हें बीस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है।

तत्पश्चात् बतलाया गया है कि कोई कोई भव्य जीव ऐसे हैं जो बीस भव करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होंगे और समस्त दुःखों का अन्त करेंगे।

अब शास्त्रकार इक्कीसवें समवाय में इक्कीस इक्कीस बोलों का उल्लेख करते हुए फर्माते हैं—

जिस साधक ने अपने जीवन को साधना में निरत कर लिया है और जो शुद्ध संयम का पालन करना चाहता है उसे इक्कीस शबल दोषों से बचना चाहिए। यह दोष संयम का विघात करने वाले हैं, अतएव सदा सर्वदा हेय हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) हस्तकर्म करके वीर्य को नष्ट करने वाला साधक न केवल अपने शरीर को ही नष्ट करता है, बल्कि अपनी आत्मा का भी अहित करता है। ब्रह्मचर्य उत्तम कोटि का तप है। वीर्य नष्ट करने वाला इस तप से भ्रष्ट हो जाता है।

(२) मैथुन का सेवन करने वाला भी शवल दोष का भागी होता है।

(३) रात्रि भोजन सामान्य गृहस्थों के लिए भी वर्जनीय है, ऐसी स्थिति में यदि कोई साधु रात्रि में भोजन करे तो वह सर्वथा ही अनुचित है। ऐसा करने वाला साधक शवलदोष का भागी होता है।

(४) साधु के निमित्त जो भोजन बनाया जाता है, वह आधाकर्मी आहार कहलाता है। जैसे वैष्णवों में जमात के उद्देश्य से भोजन बनाया जाता है और जमात को जिमाया जाता है। इस प्रकार का आधाकर्मी आहार लेने वाला साधु शवल दोष का भागी होता है।

(५) शय्यातरपिण्ड ग्रहण करने वाला साधु शवल-दोष का पात्र होता है। साधु किसी गृहस्थ के मकान में ठहरता है तो उसकी आज्ञा लेकर ठहरता है। उसे उस गृहस्थ के घर का आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए अगर वह ग्रहण करता है तो दोष का भागी होता है।

(६) छठा शवलदोष है उद्दिष्ट आदि आहार ग्रहण करना गृहस्थ यदि किसी विशिष्ट (अमुक नाम के) साधु के लिए आहार बनाए और उस आहार को वह साधु ग्रहण कर ले तो साधु उद्दिष्ट आहार को ग्रहण करने के कारण शवल दोष का भागी होता

है। इसी प्रकार जो आहार साधु के निमित्त मूल्य देकर खरीदा गया हो या सामने लाकर दिया गया हो; उसे ग्रहण करना भी शबलदोष है।

(७) बार-बार व्रतों को भंग करना, त्याग की मर्यादा का उल्लंघन करना शबल दोष है।

(८) अगर छह मास के भीतर-भीतर कोई साधु गण को बदलता है तो शबल दोष से दूषित होता है।

गृहस्थों में भी ऐसा देखा जाता है कि एक मुनीम यदि किसी दुकान पर जमकर काम करता है तो अच्छा समझा जाता है, उसकी पैठ जम जाती है। इसके विपरीत अगर वह कभी इधर और कभी उधर जाता है और कहीं टिक कर नहीं रहता तो उसकी पैठ उठ जाती है और इसी प्रकार साधु जिस गच्छ में रहता है उसे त्याग कर जल्दी-जल्दी इधर-उधर भागता है तो उसकी पैठ नहीं रहती।

(९) एक महीने में तीन महानदियों को लांगना शबलदोष है। आप जानते हैं कि साधु पैदल ही विचरण करते हैं। विचरण करते समय रास्ते में कभी-कभी बड़ी नदियां आ जाती हैं, जैसे गंगा, यमुना, सिंध, ब्रह्मपुत्र आदि ऐसी नदियों में बारहों मास पानी बहता रहता है। पहले के जमाने में नदियों पर आज जैसे पुल नहीं होते थे तो पानी में होकर ही उन्हें पार करना

पड़ता था। साधु के लिए भी कभी ऐसा प्रसंग आ जाता है तो उसे नदी पार करने की विधि बतलाई गई है। कहा गया है कि यदि नदी पार करने का प्रसंग आ ही जाय तो घुटनों से अधिक गहरे पानी में नहीं उतरना चाहिए और उसमें भी यतना के साथ एक पैर जमाये रखकर दूसरा पैर उठाना चाहिए। इस विधि के अनुसार नदी पार करने की अनुमति दी गई है। घुटनों से अधिक पानी हो तो साधु नौका का उपयोग भी कर सकता है। किस प्रकार नौका पर चढ़ना चाहिए और किस प्रकार उतरना चाहिए, इत्यादि सब वर्णन शास्त्र में दिया गया है।

भाइयो! भगवान् ने दो प्रकार के मार्ग बतलाए हैं-(१) उत्सर्ग और (२) अपवाद। उत्सर्ग मार्ग आदर्श मार्ग है और साधारणतया उसी का अनुसरण करना चाहिए। मगर कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उस मार्ग पर चलना संभव या अभीष्ट नहीं होता, तब आपद्धर्म के तौर पर अपवादमार्ग पर चलना पड़ता है। आखिर जीवन में समझौता करके चले बिना कोई चारा नहीं कम से कम सामान्य साधक के लिए। उत्सर्गमार्ग यह है कि यदि किसी गृहस्थ के हाथ की रेखाएँ सचित्त जल से गीली हों तो उससे संघट्टा भी नहीं करना चाहिए। मगर कहीं आगे जाना आवश्यक है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है और सामने नदी बह रही है तो अपवादमार्ग का अव-लम्बन करके कहा है—हे साधक! यदि ऐसा मौका आ ही जाय

तो तू एक मास में तीन नदियां विधि के साथ पार कर सकता है। हां, यदि इससे अधिक बार पार करेगा तो तू दोष का पात्र होगा। अविधि से पार करने पर भी दोष लगेगा।

(१०) एक मास में साधु यदि तीन मायास्थानों का सेवन करे तो उसे शबल दोष का भागी होना पड़ता है।

(११) साधु यदि राजपिण्ड ग्रहण करे अर्थात् राजा के लिए बनाये गये भोजन को ले तो शबलदोष है राजपिण्ड गरिष्ठ और पौष्टिक होता है। उसके उपभोग से प्रमाद आता है और विकार की जागृति होती है। साधना में विघ्न उपस्थित होता है, अतएव ऐसा आहार साधक के लिए सर्वथा त्याज्य है।

(१२) जानबूझ कर, संकल्पपूर्वक पृथिवीकाय आदि प्राणियों की घात करना शबलदोष है। साधु एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का भी त्यागी होता है। उसका जीवन ऐसा संयत होना चाहिए कि किसी भी प्राणी को उससे कष्ट न हो। इसके विपरीत अगर कोई साधक मारने की बुद्धि से जीव का घात करता है तो वह दोष का भागी होगा ही।

(१३) इसी प्रकार असत्य भाषण करने की बुद्धि से जान-बूझ कर असत्यभाषण करना शबलदोष है।

(१४) आकुट्टी बुद्धि से चोरी करना भी दोष है।

(१५) आकुट्टी बुद्धि से सचित्त पृथ्वी पर सोना दोष है।

(१६) सचित्त शिला, पाषाण आदि पर बैठना भी शबल-दोष में परिगणित है।

(१७) प्राण, भूत, जीव अथवा सत्त्व पर सोना अथवा बैठना भी दोष है।

(१८) जानबूझ कर मूल, कन्द, बीज, हरितकाय आदि सचित्त वनस्पति का भक्षण करना।

(१६) एक वर्ष में दस बार बड़ी नदियों को पार करे लेप लगावे तो शबलदोष होता है।

(२०) एक वर्ष में दस बार मायास्थान का सेवन करने वाला भी शबलदोषी होता है।

(२१) सचित्त जल या रज से लिप्त हाथों से आहार पानी ग्रहण करके भोगने वाले साधक को शबलदोष का पात्र बनना पड़ता है।

इस प्रकार साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण साधक को इन दोषों से बचने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। कदाचित् भूल-चूक से कोई दोष लग जाय तो उसकी आलोचना करके यथायोग्य प्रायश्चित्त लेना चाहिए और शुद्धि कर लेना चाहिए।

आगे बतलाया गया है कि दर्शन-सम्यक्त्व मोह का क्षय कर देने वाले नियट्टिबादर गुणस्थानवर्त्ती जीव में मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों की सत्ता रहती है। वे इस प्रकार हैं-अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ तथा स्त्रीवेद आदि तीन वेद और हास्यादि छह।

भाइयो! हँसी आने के चार कारण हैं-(१) किसी विरूप वस्तु को देखने से हँसी आ जाती है (२) मनुष्य कभी-कभी अपने आप ही बोलता है और अपने आप ही हँसने लगता है (३) किसी दूसरे की बात को सुनकर हँसी आ जाती है और (४) भूतकाल में बने हुए हँसी के योग्य किसी प्रसंग का स्मरण आने से हँसी आ जाती है, परन्तु हास्यमोहनीय कर्म जब तक उदय में रहता है, तभी तक हँसी आती है। हास्यमोहनीय का क्षय हो जाने पर हँसी नहीं आ सकती। इस प्रकार हँसी का अन्तरंग कारण हास्यमोहनीय कर्म है।

रतिमोहनीय कर्म के उदय से विषयों के प्रति अनुराग होता है। अरतिमोहनी संयम के विषय में अरुचि उत्पन्न करता है। शोकमोहनीय के उदय से जीव इष्ट वस्तु का वियोग होने पर दुःख मानता है, रोता है, आंसू बहाता है और छाती पीटता है। भयमोहनीय कर्म के उदय से भय का अनुभव होता है। जुगुप्सामोहनीय कर्म का जब उदय होता है तो किसी अमनोज्ञ

वस्तु को देखकर घृणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार घृणा भी मोहनीय कर्म का कार्य है। विवेकी पुरुष वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझकर किसी से घृणा नहीं करते। वे जानते हैं की पुद्गल परिवर्त्तनशील हैं। उन्हें भला-बुरा समझना मन का विकार मात्र है। साधक को सदैव समभाव में स्थिर रहना चाहिए और ऐसा करके कर्मबन्ध से बचना चाहिए।

आगे बतलाया गया है कि अवसर्पिणी काल का पांचवां आरा इक्कीस हजार वर्ष का होता है। छठा आरा भी इक्कीस हजार वर्ष का ही होता है। उत्सर्पिणी काल का पहला और दूसरा आरा भी इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

रत्नप्रभा नामक प्रथम नरकभूमि में किस-किस नारक की स्थिति इक्कीस हजार पल्योपम की है। छठे नरक के नारकों में किसी-किसी की स्थिति इक्कीस सागरोपम की है।

असुरकुमार जाति के देवों में किसी-किसी देव की इक्कीस पल्योपम की स्थिति कही है प्रथम और द्वितीय देवलोक के देवों में भी कोई-कोई देव इक्कीस पल्योपम की स्थिति वाले होते हैं।

आरण देवलोक में उत्कृष्ट इक्कीस सागरोपम की स्थिति है और अच्युत नामक बारहवें देवलोक में जघन्य स्थिति इक्कीस सागरोपम की है जो देव श्रीवत्स, श्रीदाम, काण्ड, माल्यकृष्ठ, चापोन्नत एव अरणावतंसक नामक विमानों में देवरूप से उत्पन्न

होते हैं, उनकी स्थिति इक्कीस सागरोपम की कही गई है उन देवों को इक्कीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर भूख लगती है, वे इक्कीस पक्षों में एक बार श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

आगे कहा गया है कि संसार में कोई कोई भव्य जीव ऐसे भी हैं जो इक्कीस भव करके सिद्धपद प्राप्त करेंगे।

बाईसवें समवाय में सर्वप्रथम बाईस परीषहों का उल्लेख किया गया है। संयम की आसेवना करने वाले साधु को समय-समय पर जो कष्ट झेलने पड़ते हैं वे परीषह कहलाते हैं, सच्चा साधक वही है जो आने वाले कष्टों को धैर्य के साथ सहन कर लेता है, किन्तु उनसे विचलित नहीं होता।

बाईस परीषहों में सर्वप्रथम क्षुधा परीषह है। आप जानते हैं कि साधु अपने लिए अन्न-पानी आदि किसी वस्तु का भविष्य के लिए संग्रह करके नहीं रखते। संग्रह करना एक प्रकार का लोभ है और अन्तःकरण में जब लोभ वृत्ति उदित होती है तो उसकी कोई सीमा नहीं रहती।

नमि राजर्षि जब दीक्षित हुए तो इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण करके उनकी परीक्षा करने आया, उसने कहा—राजन् पहले अपने भण्डार भर लो, फिर दीक्षा लेना तब राजर्षि ने उत्तर दिया—

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे ।
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥

उत्तरा० अ०, ६, ४८

नमि राजर्षि कहते हैं-कैलाश पर्वत के बड़े बड़े असंख्य सोने चांदी के पर्वत मिल जाएँ तो भी लोभी मनुष्य को उनसे किंचित् भी सन्तोष नहीं होता, क्योंकि जैसे आकाश का कहीं अन्त नहीं है, उसी प्रकार इच्छा का भी अन्त नहीं है ।

भाइयो ! इस पृथ्वी का अन्त आ जाता है, दिशाओं का भी अन्त है, परन्तु आकाश का कहीं अन्त नहीं है, उसकी कहीं सीमा नहीं है । इसी प्रकार आशा तृष्णा का भी कहीं ओर छोर नहीं है । आज जो सहस्रपति है, वह लक्षाधीश होना चाहता है । सयोगवश लक्षाधीश हो जाता है तो करोड़पति होने की कामना करने लगता है । कदाचित् करोड़पति हो गया, तब भी कहां तृप्ति है । वह अरबपति होने के स्वप्न देखने लगता है और दिन-रात उस स्वप्न की पूर्त्ति के लिए पचता रहता है इस प्रकार ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है ।

साधु इस वस्तुस्थिति का विचार करके लोभ को अपने निकट भी नहीं फटकने देते और संग्रह-सचय से दूर ही रहते

हैं। यही कारण है कि कभी-कभी उन्हें क्षुधा परीषह का सामना करना पड़ता है। वह जैसा तैसा आहार भी तो नहीं लेते। निर्दोष आहार मिलने पर ही ग्रहण करते हैं, अन्यथा वीरतापूर्वक तपस्या कर लेते हैं। वे भली-भांति जानते हैं कि दुःख का मूल ममता और सुख का मूल समता है।

साधु हो या गृहस्थ, सुख और शान्ति तो उसी को प्राप्त हो सकती है जो ममता पर विजय प्राप्त करेगा। अतएव श्रावक को भी प्रत्येक वस्तु की मर्यादा करने का विधान किया गया है। मर्यादा करने से इच्छा सीमित होती है। और जब इच्छा सीमा में रहती है तो अशान्ति भी सीमित हो जाती है, पाप की भी सीमा हो जाती है और शान्ति का आस्वादन अनुभव में आने लगता है।

साधुजन ममत्व के पूर्ण त्यागी होने के कारण किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करते। इसीसे उन्हें भूख प्यास का भी कष्ट सहन करना पड़ता है। उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन में परीषहों का जिक्र आया है और चवालीस गाथाओं में उनका वर्णन किया गया है। कहा गया है।

दिगिंछापरिगए देहे, तवसी भिक्खु थामवं।
न छिंदे न छिंदावए, न पए न पयावए ॥

अर्थात्—हे साधक ! तू साधना करने को तैयार हुआ है और साधना करते तुझे भूख सता रही है, ऐसे समय में मनुष्य भक्ष्य-अभक्ष्य का भान भूल जाता है, कच्चे-पक्के की परवाह नहीं करता और जो मिल जाय उसी को गले के नीचे उतार लेने का मन होता है, परन्तु स्मरण रखना कि तू तपस्वी है, तुझे धैर्य का अवलम्बन करना चाहिए। अगर तू जंगल में है तो यह मत सोचना कि चलो, फल-फूल तोड़कर उदर की ज्वाला शान्तकर लूँ। नहीं, यह तेरा धर्म नहीं है। अगर तू नगर में है और कोई आटा देने को तैयार हैं तो उसे लेकर तू पकाने का विचार मत करना। ऐसा करने से हिंसा से बचाव नहीं हो सकता। आगे कहा है—

कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे॥

अगर भूख के कारण साधक का शरीर कौवे की टांग के समान सूख कर कृश हो गया है, खून और मांस दोनों सूख गए हैं, शरीर में हाड़ और चाम ही शेष रह गया है, तो भगवान् फर्माते हैं–यदि ऐसी स्थिति हो जाय तब भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु निर्दोष आहार ही ग्रहण करे, सदोष आहार न ले।

दूसरी पिपासा परीषह है। कितनी ही सख्त गर्मी पड़ रही

हो और कितना ही लम्बा रास्ता नापना हो और साधु के पास जो पानी था, वह समाप्त हो चुका हो, गला सूखा जा रहा हो और जी घबरा रहा हो, ऐसे समय में यदि नदी आ जाए या दूसरा कोई जलाशय आ जाए, फिर भी साधु की भावना यह नहीं होनी चाहिए कि मैं इस पानी को पी लूँ ! नहीं, उसे उस परिस्थिति में भी अपनी मर्यादा की रक्षा करना चाहिए और प्यास को सहन करना चाहिए।

भाइयो ! श्रमणसंघ के वर्त्तमान उपाचार्यजी महाराज के साथ मलकापुर वाले मोतीलालजी महाराज चूरु में चौमासा करने को जा रहे थे। वह प्रान्त थली के नाम से विख्यात है। वहां दूर-दूर तक पानी नहीं मिलता और कुए बहुत गहरे होते हैं।

तो विहार करते समय रास्ते में उन्हें पानी नहीं मिला, पानी न मिलने के कारण उन्होंने प्राण त्याग दिए, मगर कच्चे पानी का स्पर्श नहीं किया।

पूज्य रघुनाथजी महाराज थली प्रान्त में विशेष रूप से विचरते थे, उनके साथ के कई साधुओं ने पानी के अभाव में प्राण दे दिए थे।

कुछ आर्यिकाएँ निम्बाहेड़ा (मालवा) के निकट एक गांव जा रही थीं। रास्ते में उन्हें जोरों से प्यास सताने लगी। कुछ साध्वियां पानी की खोज में गईं और जब वे पानी लेकर लौटीं,

कहीं घी घना। परन्तु साधु को प्रत्येक परिस्थिति में समभाव से रहना चाहिए। कभी क्षुधा से और कभी पिपासा से पीड़ित होने पर दीनता नहीं लाना चाहिए। अवसर हो तो प्राण भी त्याग देने पड़ते हैं। कभी आहार-पानी की प्रचुरता हो तो हर्ष नहीं मनाना चाहिए, उसे अनासक्तभाव से शास्त्रानुकूल परिमित मात्रा में ही ग्रहण करना चाहिए। तभी सच्चा संयम पालन किया जा सकता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

सिर जावे तो जावे, मेरा सत्य धर्म नहीं जावे।

सच्चा साधक प्राणान्त कष्ट आ जाने पर भी अपने हृदय को भीरु नहीं बनाता, बल्कि भावना की उच्च भूमिका पर आरूढ़ होकर कहता है-मैं त्याग के उस ऊँचे स्टेज' पर हूं जहां पहुँचने के पश्चात् मेरा शरीर भले छूट जाय, प्राण भले बिछुड़ जाएँ, परन्तु मेरी अंगीकृत प्रतिज्ञा नहीं जानी चाहिए। क्योंकि प्रतिज्ञा भंग होने से धर्म की हानि होती है। प्रतिज्ञा पर अटल रहने से आत्मबल की वृद्धि होती है, हृदय में नूतन साहस का सचार होता है।

भाइयो ! जीवनयात्रा लम्बी है और साधना की यात्रा भी दीर्घकाल चलने वाली है। अतएव साधक को कभी आहार-पानी मिलता है और कभी नहीं भी मिलता, परन्तु साधक को प्रत्येक परिस्थिति में समता भाव में ही विचरण करना चाहिए और

आने वाले कष्टों को वीरता धीरता के साथ सहन करना चाहिए। साधक को भूलना नहीं चाहिए कष्टों के साथ संघर्ष करने से ही आत्मबल बढ़ता है।

समभाव ही साधुत्व है। जिस साधु में समभाव नहीं है, समझ लो उसमें साधुपन नहीं है। समभाव साधुत्व के लिए तो अनिवार्य है ही, श्रावकत्व की शोभा भी समभाव में है, आप गृहस्थ दो घड़ी की सामायिक करते हैं, उसमें भी समभाव होना चाहिए। जीवन में समभाव लाने का अभ्यास करने के लिए सामायिक व्रत का विधान किया गया है। समभाव की प्राप्ति यद्यपि सरल नहीं है तथापि शरीर पर से जिसकी ममता उतर जाती है, उसमें समभाव अवश्य आ जाता है और वह अपनी प्रतिज्ञा को निभा लेता है। इसके विरुद्ध शरीर पर जिसकी ममता है, वह दूषित आहार भी ग्रहण कर लेता है।

नवपदओली समारोह—

भाइयो ! आज से श्रीनवपदजी की ओली प्रारंभ हो रही है। जैन समाज में यह ओली-तप बहुत वर्षों से चला आ रहा है, आसौज शुक्ला सप्तमी से आरंभ होता है और पूर्णिमा तक चलता है। इस प्रकार यह तप नौ दिनों तक चलता है। इसमें नौ आयंबिल किये जाते हैं। आयंबिल के साथ नौ पदों की माला फेरी जाती है। पांच परमेष्ठी तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र

और तप, यह नौ पद हैं, आज क्योंकि प्रथम दिन है अतएव निम्नलिखित जाप करके बीस माला फेरना चाहिए—

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं णमो अरिहंताणं ।

और सफेद चीज (अचित्त) खाकर आयंबिल करना चाहिए।

सारा संसार दुःखों से पीड़ित है। जो प्राणी विवेकवान् हैं वे दुःखों से छूटने के लिए गुरु की शरण ग्रहण करते हैं, गुरु ससारी जीवों को दुःखी देखकर अनुकम्पा भाव से प्रेरित होकर उनका दुःख दूर करने के लिए यथोचित उपाय बतलाते हैं। उस उपाय से दुःखी का दुःख मिट जाता है।

आज से श्रीपालरास आपको सुनाने का भाव है। वह रास भी इसी तथ्य को प्रकट करने वाला है कि मनुष्य के जीवन में भांति-भांति की सुख-दुःख की घटनाएँ घटती रहती हैं। सामान्य मनुष्य सुख के सोपानों पर आरुढ़ होकर हर्षोन्मत्त हो जाता है और दुःख से घबरा कर अपने साहस को खो बैठता है। यह दोनों परिस्थितियां अभिनन्दनीय नहीं है। मनुष्य को दोनों अवस्थाओं में समभाव रखना चाहिए।

श्रीपाल राजा के शरीर में असातावेदनीय कर्म के उदय से कुष्ठ रोग हो गया। सारा शरीर गलने-सड़ने लगा और दुर्गन्धयुक्त हो गया। परन्तु जब उन्होंने गुरु का निमित्त पाकर, उनके कथनानुसार ओलीतप किया तो उस तप के प्रभाव से शरीर

निरोग हो गया। तब नीरोग होकर और नवपदजी को अपने जीवन का आधार बना कर श्रीपाल ने देश विदेश की यात्रा की। कई राजकुमारियों से विवाह किया और राज्य प्राप्त किया।

ओलीतप करने वाले इस चरित को स्वयं पढ़ लेते हैं अथवा गुरु के मुख से सुनते हैं। मैं आज उसी चरित को प्रारंभ कर रहा हूं। किसी भी शुभ कार्य के प्रारंभ करने से पूर्व गौतम स्वामी को नमस्कार करके मैं भी मंगल मनाता हूँ—

ऋषभादिक चउवीस जिन, विद्यमान प्रभु वीस।
अनन्त चतुष्टययुक्त हैं, ते प्रणमूं जगदीश ॥१॥
गणधर गौतम स्वामीजी; तास चरण शिर नाय।
वन्दूं माता सरस्वती, दीजे वर मुझ माय ॥२॥
नवपद महिमा वरणवूं, प्रणमी सद्गुरु पाय।
कहूं चरित श्रीपाल का, पढ़तां सम्पत आय ॥३॥

उक्त चरित का प्रारम्भ करते हुए स्व० जैनदिवाकर श्री चौथमलजी म०, साधुभाषा में, सर्वप्रथम चौबीस तीर्थङ्करों बीस विरहमान तीर्थङ्कर देवों तथा अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न अन्य भगवन्तों को नमस्कार कर रहे हैं। फिर गौतम स्वामी को नमस्कार किया गया है। भगवान् तीर्थङ्करों की वाणी सरस्वती मानी गई है। उसे संबोधन करके कहते हैं—हे वाणी सरस्वती! मुझको

वरदान दो कि मैं जिस कार्य को प्रारंभ कर रहा हूं वह शीघ्र और निर्विघ्न समाप्त हो जाए।

इस चरित का इतना महत्त्व है कि इसे पढ़ने या सुनने से द्रव्यसम्पत्ति और भावसम्पत्ति, स्वर्ग और मोक्ष रूपी लक्ष्मी बिना बुलाए आ जाती है। अतएव आप सावधान होकर तथा चित्त को एकाग्र करके इसे श्रवण करें।

भाइयो! भगवान् गौतम स्वामी अपने शिष्यों के साथ ग्रामानुग्राम विचरते हुए राजगृह नगर के बाहर उद्यान में पधारे। गौतम स्वामी के शुभागमन का वृत्तान्त सुनकर राजगृह का राजा श्रेणिक अतीव प्रसन्न हुआ और वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर चार प्रकार की सेना के साथ धर्मकथा श्रवण करने को गया, उसने भगवान् गौतम के दर्शन किए, उन्हें वन्दन-नमस्कार किया और फिर उपासना करने लगा। तत्पश्चात् राजा ने प्रश्न किया—भगवन्! नवपदजी का ध्यान किसने किया? इनका ध्यान करने से किस फल की प्राप्ति होती है? कृपा करके इस विषय पर प्रकाश डालिए।

भाइयों! वक्ता को अपनी बात कहने में तभी आनन्द, उत्साह और उल्लास होता है, जब श्रोताओं का ध्यान श्रोता की ओर हो। इसी प्रकार श्रोताओं को तभी आनन्द आता है जब वक्ता उनकी ओर उन्मुख हो। यदि सुनने वाले या सुनाने वाले का चित्त ठिकाने न हो तो दोनों ही आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते।

गौतम स्वामी बेले बेले को पारणा करते थे, अतएव उन्हें तो निश्चिन्तता थी ही, क्योंकि आहार के साथ कई काम बढ़ जाते हैं। जब आहार ही न करना हो तो काफी समय बच जाता है। इधर राजा श्रेणिक की भी ओलीतप के विषय में जानने की गहरी उत्कंठा थी। अतएव सुनाने वाले भी और सुनने वाले भी एकाग्र थे। सुनने वालों की पात्रता देखकर भगवान् गौतम ने श्रीपालचरित के माध्यम से ओलीतप का माहात्म्य सुनाना प्रारंभ किया। वही चरित मैं आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं।

भाइयो ! चौथे आरे की बात है, उस समय चम्पा नामक नगर था। वहां सिंहरथ नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कमलप्रभा था। कमलप्रभा कोंकण देश के राजा की छोटी बहिन थी।

एक दिन शय्या पर लेटी थी, परन्तु चिन्ता के कारण उसे नींद नहीं आ रही थी। बहिनों की चिन्ता का प्रधान कारण सन्तान का अभाव होता है। रानी को भी इसी बात की चिन्ता थी। बार-बार उसके मन में आता था–मेरा विवाह हुए कई वर्ष हो गए, फिर भी मैं सन्तान का सुख नहीं अनुभव कर सकी। सन्तान हो तो स्त्री का जीवन वृथा है-। इस प्रकार सोचती हुई रानी ने न जाने कितनी रातें करवट बदलते-बदलते ही व्यतीत की थीं, किन्तु संयोगवश एक दिन उसकी मनोकामना पूरी हुई।

उसने एक भाग्यशाली पुत्र को जन्म दिया। पुत्र प्राप्ति के उपलक्ष्य में राजा ने लाखों रुपये खर्च किए। कारागार से बंदी छोड़े गए और घर-घर बधाइयां हुईं, बारहवें दिन, अशुचि से निवृत्त होने पर बालक का नामकरण करने के लिए बड़ा महोत्सव मनाया गया।

नामकरण के अनेक ढङ्ग हैं, जिस नक्षत्र में जन्म होता है, पण्डित उसके चार चरण देख कर तदनुसार नाम रखते हैं। जैसे मेषराशि में जन्म होने पर चुन्नीलाल नाम देते हैं। कभी-कभी प्रेम से मनचाहा नाम रख लिया जाता है कोई-कोई मास के अनुसार 'सावनमल' आदि नाम भी रख लेते हैं। सौराष्ट्र में बच्चे का नाम भुआ (पिता की बहिन) रखती है।

हां, तो राजा सिंहरथ के यहां पण्डितजन एकत्र हुए और उन्होंने नक्षत्रों के आधार पर कुण्डली बनाई और नवजात शिशु का 'श्रीपाल' नाम रख दिया।

राजकुमार श्रीपाल का पांच धाएँ लालन-पालन करने लगीं और वह द्वितीया के चांद की तरह दिन-रात वृद्धि को प्राप्त होने लगा। राजकुमार अत्यन्त सुन्दर; सौम्य और सौभाग्यवान् था। उसे देखकर सब कुटुम्बी जन हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव करते थे।

भाइयो ! यह चरित काफी लम्बा है और विस्तार से

सुनाया जाय तो एक मास में भी पूर्ण न हो। मगर तपस्या करने वालों की यह भावना रहती है कि इन नौ दिनों में ही इसे पूरा सुन लिया जाय। अतएव मैं इसे नौ दिनों में पूर्ण कर देने का प्रयत्न करूँगा।

तो श्रीपाल कुछ बड़ा हुआ कि एक दिन अचानक सिंहरथ के उदर में शूल उत्पन्न हुआ और उसकी मृत्यु हो गई। महारानी कमलप्रभा के शोक का पार न रहा। उनके हृदय को बड़ा गहरा आघात लगा। वह रात दिन रुदन करने लगी। यह देख कर मंत्रियों और कुटुम्बियों ने आश्वासन देते हुए कहा-महारानीजी! मृत्यु तो जीवन का अन्तिम और अनिवार्य परिणाम है। रोने-धोने से कुछ लाभ होने वाला नहीं है। धैर्य के साथ इस वियोग को सहन करना चाहिए। राजकुमार को देखकर आपको सान्त्वना प्राप्त करनी चाहिए। थोड़े ही काल में वह बड़े हो जाएँगे और सब राजकाज सँभाल लेंगे।

इस प्रकार सान्त्वना पाकर और विधि के विधान को अटल जान कर रानी ने धैर्य धारण किया। यथासमय श्रीपाल सिंहासन पर अभिषिक्त किये गये और राज्य की बागडोर रानी तथा मंत्री ने अपने हाथ में ले ली।

परन्तु यह संसार विचित्र और विषम है! कर्मों की गति अनोखी है। कर्म न जाने कैसे-कैसे खेल खिलाते हैं।

राजा सिंहरथ का वीरदमन नामक एक भाई था। सिंहरथ की मृत्यु के पश्चात् वह स्वयं राज्य हथिया लेने के मसूबे करने लगा। उसके मन में अत्यन्त क्रूर विचार उत्पन्न हुआ। सोचा—यदि श्रीपाल को और मंत्री को मौत के घाट उतार दिया जाय तो राज्य की प्राप्ति होने में कोई विघ्न ही न रह जाय। मगर किस प्रकार इस विचार को कार्यान्वित किया जाय? यह सोचते-सोचते वीरदमन ने उन्हें मार डालने का उपाय भी सोच लिया। उन्हें मार डालने के बाद भी यदि सेना अनुकूल न हुई तो राज्य पर अधिकार नहीं किया जा सकेगा, यह समस्या वीरदमन के सामने उपस्थित हुई। उसका निराकरण करने के लिए उसने षड्यन्त्र रच-कर सेना को भी अपने पक्ष में कर लिया। इस प्रकार वीरदमन अन्दर ही अन्दर राज्य लेने की तैयारियां करने लगा।

परन्तु मंत्री को किसी सूत्र से वीरदमन के इस भयानक षड्यन्त्र का पता चल गया। तब वह महारानी कमलप्रभा के पास पहुँचा और कहने लगा—महारानीजी! आपके देवर वीरदमन की नीयत खराब हो गई है। वे राजकुमार को और मुझको यमधाम पहुँचा कर राज्य पर अधिकार करना चाहते हैं। उन्होंने सेना को भी अपने पक्ष में कर लिया है। ऐसी विषम स्थिति में क्या प्रतीकार करना चाहिए?

महारानी यह सुनकर अत्यन्त चिन्तित हुई। उसने कहा—मंत्रिवर! आप मेरे, राजकुमार के और राज्य के हितैषी हैं,

आपके ऊपर मेरा पूर्ण विश्वास है। आप हमें धोखा नहीं दे सकते, यह मैं बखूबी जानती हूं। अतएव आप ही विचार कीजिए कि किस प्रकार वीरदमन के षड्यन्त्र को विफल किया जाय? मुझे राज्य और वैभव की परवाह नहीं है। मैं बालक का जीवन चाहती हूं।

तब मंत्री ने कहा—परिस्थिति की विषमता को देखते मुझे तो यही श्रेयस्कर प्रतीत होता है कि हमें अन्यत्र कहीं सुरक्षित स्थान पर पहुंच जाना चाहिए। राजकुमार सकुशल रहेंगे तो राज्य की कमी नहीं रहेगी।

आखिर मंत्री का निर्णय अन्तिम रहा। महारानी कमलप्रभा श्रीपाल को साथ लेकर मंत्री के साथ राजमहल से बाहर निकल पड़ी और अनिर्दिष्ट पथ पर चल पड़ी। मार्ग ऊबड़-खाबड़ है, कंकरों और कांटों से व्याप्त है, भयानक वन है और शेरों की कलेजे को कँपा देने वाली गर्जना सुनाई पड़ रही है। महारानी कमलप्रभा कोमलांगी है। काहे को कभी पैदल चली है। मगर आज अपने बालक की प्राणरक्षा के लिए सभी कष्टों को सहन करती हुई चल रही है, आगे बढ़ रही है। वह सोचती है—प्रभो! पूर्वजन्म में मैंने ऐसा कौन-सा गुरुतर पाप किया था कि असमय में वैधव्य भोगना पड़ा और आज अनाथिनी की तरह भटकना पड़ रहा है।

रानी कमलप्रभा थक कर चूर हो गई। उसके पैरों में छाले पड़ गए। तब वह एक वृक्ष की छाया में विश्राम करने के लिए बैठ गई। मगर उसे शीघ्र ही आगे बढ़ना था। अतएव वह तत्काल उठ खड़ी हुई और पुनः साहस बटोर कर आगे बढ़ने लगी। परन्तु भूख का समय हो गया था। बालक श्रीपाल ने कहा–मां, मुझे भूख लगी है। दूध दो।

यह शब्द सुनकर कमलप्रभा का कलेजा आहत हो गया। वह बड़े असमंजस में पड़ गई। सोचने लगी-पानी का भी ठिकाना नहीं है। बालक को दूध कहां से पिलाऊं। किसी प्रकार उसका मन बहलाकर रानी आगे बढ़ी तो उसे कुष्ट रोग से पीड़ित सात सौ व्यक्ति मिले। उन्होंने रानी से पूछा-आप कौन है ? इधर आने का क्या कारण है ?

रानी ने कहा-भाइयो! हम हैं तो सब कुछ हैं परन्तु आज कुछ भी नहीं हैं।

कुष्ठी समझ गए कि ये किसी बड़े घराने के हैं, मगर किसी घोर विपदा के कारण आज इस हालत में आपड़े हैं, इन की रक्षा करने वाला भी कोई नहीं है। तब उन्होंने कहा माताजी आप हमारे साथ रहिए। हम आपकी यथा शक्ति सेवा करेंगे।

रानी के पास कोई चारा नहीं था। अपनी और अपने बच्चे की रक्षा करने के लिए उसने कोढ़ियों के साथ रहना स्वी-

कार कर लिया। रानी ने अपना सारा वृतान्त बतलाकर उनसे कहा–देखो, कोई हमारी तलाश करता आवे और तुममें से किसी से कुछ पूछे तो कुछ भी मत बतलाना। बतलाओगे तो इस बालक के प्राणों की रक्षा नहीं हो सकेगी।

कोढियों ने कहा- माताजी, आप तनिक भी चिन्ता न करें। आपके सम्बन्ध में हम किसी को जानकारी नहीं देगें।

उधर वीरदमन राज्य का अधिकारी बनने के लिए वहां आ पहुंचा। ज्यों ही वह महल में पहुँचा, न उसे रानी दिखलाई दी और न श्रीपाल मिला। तब वह समझ गया कि मेरे षड्यंत्र की गंध पाकर वे कहीं भाग निकले हैं। जब तक इस पृथ्वी पर जीवित रहेंगे मैं निशंक राज्य नहीं कर सकूंगा। इस प्रकार सोच कर उसने अपने सिपाहियों को आदेश दिया–जाओ और रानी कमलप्रभा का तथा श्रीपाल का पता लगाओ।

वीरदमन के सेवक चारों ओर फैल गए और राजमाता एवं राजकुमार की खोज में घूमने लगे। घूमते घूमते कुछ सेवक कुष्ठियों के पास भी पहुंचे। उनसे पूछताछ करने पर उत्तर मिला–भाई, हम लोग कोढ़ी हैं। लोग हमारी हवा से भी परहेज करते हैं। हमारे पास आकर कौन खतरा मोल लेगा? तुम हमारे बीच आओगे तो तुम्हें भी इसी रोग का शिकार होना पड़ेगा।

यह उत्तर सुनकर सिपाही तो चले गए, मगर कोढ़ियों ने सोचा–महारानी और कुमार यहां सकुशल नहीं रह सकते, अतएव हमें कहीं अन्यत्र चल देना चाहिए। इस प्रकार विचार और निश्चय करके वे सब वहां से रवाना हो गए। उन्होंने कुमार को गधी पर सवार कर दिया और कपड़े से इस प्रकार ढंक दिया कि कोई देख या पहचान न सके।

भाइयो ! कोढ़ एक प्रकार की छूत की बीमारी है। जो व्यक्ति कोढ़ी के पास रह जाता है, उसे छूत लगे बिना नहीं रहती। बहुत समय तक कोढ़ियों के संसर्ग में रहने के कारण श्रीपाल के शरीर में भी कुष्ठ रोग उत्पन्न हो गया। महारानी अपने प्राणप्रिय और एक मात्र आधारभूत पुत्र की यह दशा देखकर अत्यन्त उद्विग्न एवं दुःखी होने लगी। बच्चे को रोगमुक्त करने की इच्छा से बच्चे को कोढ़ियों को सौंप कर वह कहीं दवा लेने चली गई। महारानी जल्दी वापिस न लौट सकी और कोढ़ी आगे बढ़ गए। चलते-चलते वे लोग श्रीपाल के साथ उज्जयिनी जा पहुंचे।

जिस समय की यह घटना है, उस समय उज्जयिनी में पहुपाल (प्रभुपाल) नामक राजा राज्य कर रहा था। उसकी पटरानी का नाम सौभाग्यसुन्दरी था। वह मिथ्यादृष्टि थी। प्रभुपाल की दूसरी रानी रूपसुन्दरी सम्यग्दृष्टि थी और वीतराग देव की

उपासिका थी। दोनों रानियों की एक-एक कन्या थी। सौभाग्यसुन्दरी की कन्या का नाम सुरसुन्दरी और रूपसुन्दरी की कन्या का नाम मैनासुन्दरी था। जब दोनों कन्याएँ बड़ी हो गईं तो राजा ने सौभाग्यसुन्दरी की कन्या सुरसुन्दरी को शिक्षा देने के लिए कलाचार्य के पास बिठलाया। वह कुछ ही वर्षों में पढ़-लिखकर तथा अन्य कलाओं में कुशल हो गई। दूसरी रानी की कन्या मैनासुन्दरी को राजा ने जैन पण्डित से पढ़ाने की व्यवस्था की। वह भी कुछ समय में पढ़-लिखकर होशियार हो गई।

एक दिन कलाचार्य सुरसुन्दरी को राजा के पास लाए और कहने लगे—महाराज! राजकुमारी सुरसुन्दरी चौसठ कलाओं में कुशलता प्राप्त कर चुकी है। आप इसकी परीक्षा ले लीजिए।

राजा ने परीक्षा ली और सुरसुन्दरी उत्तीर्ण हुई। यह देखकर राजा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसने कलाचार्य को भरपूर पुरस्कार दिया तथा यथोचित आदर-सत्कार करके विदा किया।

कुछ समय बाद मैनासुन्दरी की भी परीक्षा ली गई और उसने भी सफलता प्राप्त की। राजा ने बहुत प्रसन्नता का अनुभव किया और सोचा—मैं बड़ा भाग्यशाली हूं कि मेरी दोनों कन्याएँ सुशिक्षित हो गई हैं। इस प्रसन्नता के साथ राजा ने अपने अगले

उत्तरदायित्व का भी अनुभव किया। अब दोनों कन्याएँ विवाह के योग्य हो चुकी थीं और उनके लिए अनुरूप वर की खोज करना आवश्यक था।

राजा प्रभुपाल ने विचार किया-जब कन्याएँ सुशिक्षित हैं तो विवाह के विषय में उनसे भी परामर्श कर लेना अच्छा रहेगा। ऐसा करने से मेरा उत्तरदायित्व कम हो जायगा और राजकुमारियों को इच्छानुसार वर प्राप्त होने से उनका जीवन अधिक सुख-सन्तोषमय बनेगा। इस प्रकार विचार कर राजा ने एक दिन सुरसुन्दरी को अपने पास बुलाकर पूछा-बेटी, अब तुम सयानी हो गई हो और मैं तुम्हें किसी योग्य वर के सिपुर्द करके अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहता हूँ। मगर ऐसा करने से पूर्व यह जान लेना चाहता हूँ कि तुम किस प्रकार का वर पसंद करोगी?

इस प्रश्न को सुन कर सुरसुन्दरी किंचित् लज्जित हो उठी। उसने गर्दन नीची करके कहा-पिताजी! आपके पास जीवन के अनुभवों का विपुल भण्डार है। वह मेरे पास कहां है? अतएव मैं इस विषय में कुछ भी नहीं कहना चाहती। आप जैसा योग्य समझें, कीजिए।

तत्पश्चात् प्रभुपाल ने मैनासुन्दरी को बुलाया और उससे भी यही प्रश्न किया। तब मैनासुन्दरी ने उत्तर दिया पिताजी मुझ

से आप यह प्रश्न न पूछें। मनुष्य के भावी सुख दुःख का आधार उसके शुभाशुभ कर्म हैं। जगत् के सभी जीव कर्मों के अधीन हैं जैसे अभिलाषा करने से कोई सुखी नहीं हो सकता, उसी प्रकार कोई किसी दूसरों को सुखी अथवा दुखी नहीं बना सकता। अतएव जिसे आप देंगे और जहां मेरा भाग्य मुझे ले जाएगा, वहीं चली जाऊंगी।

मैनासुन्दरी के कथन में सच्चाई तो थी, मगर राजा ने इस उत्तर में अपने महत्व की क्षति देखी। वह कुछ चिढ कर बोला-बेटी, तेरा भाग्य तो मेरे ही हाथ में है मैं तुझे सुखी बना सकता हूं और दुखी भी। अतएव तू स्पष्ट बता कि तेरा विवाह कहां और किसके साथ किया जाय ?

मैनासुन्दरी ने कहा-पिताजी ? वर्त्तमान मनुष्य के हाथ में है वह शुभ या अशुभ कर्म करने में स्वाधीन है, परन्तु अतीत में जो कुछ उपार्जन कर लिया है, उसे पलटना तो उसके हाथ में नहीं है। फिर भी मेरा यही निवेदन है कि आप जिसे मुझे देंगे, उसी के साथ रहकर मैं सुख मान लूंगी।

यह सुनकर राजा की झुंझलाहट कुछ और बढ गई। वह बोला-तुम गलत विचार कर रही हो मैनासुन्दरी ? तुम्हें सुखी या दुखी बनाना इस समय पूरी तरह मेरे हाथ में है।

मैनासुन्दरी ने कहा—पिताजी आप मेरे लिये पूज्य हैं।

आपके साथ विवाद करने की मुझ में योग्यता नहीं है। ऐसा करना मुझे शोभा नहीं देता। तथापि मैं इतना समझती हूँ और सिद्धान्त कहता है कि—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

अर्थात्–इस आत्मा ने पूर्वकाल में जो शुभाशुभ कर्म किए हैं; उन्हीं का यह वर्तमान में फल भोगता है। अगर यह जीव दूसरों का दिया सुख-दुःख भोगे तो अपने किये हुए कर्म निष्फल हो जाएं?

मगर ऐसा हो नहीं सकता। कर्मशक्ति अमोघ है।

मैनासुन्दरी इस सिद्धान्त पर अचल श्रद्धा रखती थी। परन्तु प्रजापाल को इसके कथन में अपनी महत्ता की हानि दिखाई दे रही थी राजा सोचता था इसके कथन में अहंकार भरा है। यद्यपि अहंकार को वहां कोई स्थान नहीं था।

राजा का मन्त्री पिता-पुत्री के विवाद को चुपचाप सुन रहा था। परन्तु जब उसने अनुभव किया कि बात बढ़ती जाती है और इसका परिणाम अवांछनीय हो सकता है, तो बीच में हस्तक्षेप

करते हुए कहा बाप-बेटी के बीच का विवाद कुछ अच्छा नहीं लगता। महाराज ? यह अपरिपक्व बुद्धि कन्या है। इसकी बात पर ध्यान न दीजिए। उसने जैसा कहीं सुना होगा, आपके समक्ष कह रही है।

मंत्री के बीच में पड़ने से विवाद समाप्त तो हो गया, परन्तु राजा के दिल में मलाल रह गया। वह मन ही मन कहने लगा देखता हुँ इसके कर्म कैसे है।

मंत्री ने मैनासुन्दरी से कहा बेटी, गुरुजनों के साथ वाद-विवाद नहीं किया जाता।

मंत्री ने देखा महाराज का मन अब भी स्वस्थ नहीं हुआ है। अतएव प्रसंग बदलने और विस्मृत करने के विचार से उसने कहा—महाराज, पधारिए, थोड़ी देर नगर के बाहर स्वच्छ वायु में भ्रमण कर आवें।

राजा भी अपना मन हल्का करना चाहता था। अतएव उसने मंत्री का सुझाव स्वीकार कर लिया और दोनो घोड़ों पर सवार हो कर जंगल में निकल पड़े।

जंगल में पहुँचने पर उन्हें सात सौ कोढियों की जमात दिखलाई दी। संयोग की बात कि कोढियों ने उस समय श्रीपाल के सिर पर छत्र लगा रखा था और उसके ऊपर चंवर ढोरे जा

रहे थे। यह विचित्र-सा दृश्य देख कर राजा ने मंत्री से पूछा-मंत्री यह कौन लोग हैं ?

मंत्री ने पूछताछ कर बतलाया-महाराज ! ये कोढी हैं और इस नवयुवक को इन्होंने अपना राजा बना रक्खा है।

मंत्री की सीधी-सादी बात सुनते ही राजा को मैनासुन्दरी वाला विवाद स्मरण हो गया। वह सोचने लगा, लड़की कहती है कि सुख दुख अपने कर्मों से प्राप्त होता है। मैं उसे सुखी-दुखी नहीं बना सकता। क्यों न इसी लड़के के साथ उसका विवाह कर दिया जाए। उसके कर्म सिद्धान्त की ठीक तरह परीक्षा हो जाएगी।

राजा ने आखिर अपना विचार स्थिर कर लिया और अपना निश्चय मंत्री को जतला दिया। मंत्री ने राजा को बहुत समझाने का प्रयत्न किया मगर भवितव्य टाला नहीं टलता। अतएव राजा ने मंत्री की बात स्वीकार नहीं की।

राजा भ्रमण करके अपने महल में आ गया। परन्तु जो बात उसके दिमाग में घर कर चुकी थी, व निकल न सकी। जिसे भी राजा का विचार मालूम हुआ, उसी ने समझाया महाराज ! आप अबोध बालिका की बात पर ध्यान न दें और अपने कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व का विचार करें। वह आपकी बेटी है। उसे दुख

में देख कर आप सुखी नहीं रह सकेंगे। किन्तु राजा अपने निश्चय से विचलित नहीं हुआ।

जब महारानी को महाराज के विचार का पता चला तो उसने भी बहुत समझाया मनाया, निहोरे किए, दीनता दिखलाई कि अपने इस विचार को कार्यान्वित न करें और लड़की के कहने का बुरा न मानें, परन्तु राजा ने उसकी बात भी अनसुनी कर दी। उसने मन में दृढ़ संकल्प कर लिया कि मैनासुन्दरी का विवाह उस कोढ़ी राजा से ही किया जाएगा, तब उस छोकरी को पता चलेगा कि दुःख कर्मों से मिलता है या मेरे देने से मिलता है।

अन्ततः राजहठ अमल में आया मैनासुन्दरी का विवाह श्रीपाल के साथ सम्पन्न हो गया। विवाह के बाद राजा ने कोढ़ियों को अन्यत्र चले जाने का आदेश दे दिया, वे रवाना हुए और मैनासुन्दरी भी अपने पति के साथ चल दी।

श्रीपाल की माता कोढ़ियों की जमात से बिछुड़ कर अपने पितृगृह चली गई और वहीं रहने लगी।

इधर श्री पाल जब मैनासुन्दरी से एकान्त में मिला तो कहने लगा मैनासुन्दरी ? यद्यपि तुम्हारे पिताने क्रोधावेश में आकर मेरे साथ तुम्हें ब्याह दिया है और उनका यह कार्य सुविचार पूर्ण नहीं हुआ है; तथापि अभी तक तुम पूरी तरह निर्दोष हो। तुम कोमलांगी हो और मेरे साथ रहकर सुख नहीं पा सकोगी

अतएव अगर किसी दूसरे योग्य नवयुवक के साथ विवाह करके सुखपूर्वक रहो तो अच्छा। मैं ऐसा करने की सहर्ष अनुमति देता हूं।

मैनासुन्दरी ने उत्तर दिया प्राणनाथ! आर्य सन्नारी का जीवन में एक ही बार विवाह होता है। उसके भाग्य में जैसा भी पति लिखा होता है, मिल जाता है। कुलीन नारी का कर्तव्य है कि वह उसे देवता के समान माने, वफादारी के साथ उसके प्रति व्यवहार करे। फिर आप तो उदार और महानुभाव हैं। मेरे सुख के लिये बड़े से बड़ा उत्सर्ग करने को तैयार हैं। शरीर का रुग्ण होना कोई अलौकिक बात नहीं है। यह शरीर रोगों का घर है-रोग उभरते भी हैं, मिट भी जाते हैं। यदि मेरी सेवा आपको रोगमुक्त कर सकी तो मैं अपना जीवन धन्य समझूंगी। अब मैं आपसे अभिन्न हूं। आपका सुख और दुःख ही मेरा सुखदुःख है। ऐसी स्थिति में आपके मुख से पुनः ऐसी बात नहीं सुनना चाहूंगी।

श्रीपाल मैनासुन्दरी का उत्तर सुनकर अत्यंत प्रभावित हुआ। उसने कहा—प्रिये! निस्सन्देह तुम आदर्श नारी हो। मैंने तुम्हारे सुख का विचार करके ही ऐसा कहा था। अगर तुम मेरे साथ रहना चाहती हो तो मैं भाग्यवान् हूं।

मैनासुन्दरी तन-मन से श्रीपाल की सेवा में निरत हो गई,

मानों उसने अपना अस्तित्व अपने पति में विलीन कर दिया। इसी प्रकार रहते-रहते कुछ समय व्यतीत हो गया। भाग्य से वहां एक धीर, वीर, गंभीर ज्ञानी एवं तपस्वी मुनिराज का आगमन हुआ। श्रीपाल मैनासुन्दरी के साथ उनका दर्शन करने गया। धर्मोपदेश श्रवण करने के पश्चात् मैनासुन्दरी ने मुनिराज से निवेदन किया गुरुदेव! आपके सिवाय हमारी दुःखगाथा को सुनने वाला कोई दिखाई नहीं देता। मेरे माता-पिता मुझ से रूठे हुए हैं। इस प्रकार कहकर उसने मुनिराज को पिछला समग्र वृत्तान्त कह सुनाया।

मैनासुन्दरी का वृत्तान्त सुनकर मुनिराज ने कहा-बेटी! तू चिन्ता मत कर। यह तो चिन्तामणि रत्न के समान पति तुझे प्राप्त हुआ है। इसका भाग्य परम उज्जवल है। यह थोड़े ही दिनों में नीरोग होकर राज्य का अधिकारी बन जाएगा। किसी कवि ने कहा है—

लंबी ललाट नेतर भुजा, लम्ब कर्ण उर सब सिरे।
कहीं देखे रे जोषीणा, तो बैठो ही राज करे॥

भाइयो! एक ज्योतिषी किसी भाग्यशाली पुरुष के अङ्गों को देख रहा था। उसी समय उधर से एक मस्तिष्क-रेखा का पण्डित निकला। उसने उस पुरुष के मस्तक को देखते ही ज्योतिषी से कहा—भाई ज्योतिषी! तुम इसके अंगो को क्या देख रहे हो!

इसका तो ललाट ही बतला रहा है। कि यह बड़ा भाग्यशाली है। वह पुरुष भाग्यशाली होता है जिसका ललाट लंबा चौड़ा हो, भुजाएं लम्बी हों, विशाल नेत्र हों, लम्बे कान हों और वक्षस्थल चौड़ा हो?

मुनिराज ने श्रीपाल के शारीरिक लक्षणों को देखकर कह दिया—बेटी, तू चिन्ता क्यों करती है? तेरा भाग्य प्रबल है।

तब मैनासुन्दरी ने कहा-मुनिराज? कृपा करके ऐसा कोई उपाय बतलाइए जिससे मेरे पति का दुख दूर हो जाए।

भाइयो! साधु किसी को मंत्र यंत्र तंत्र आदि नहीं बतलाते परन्तु दुखी मनुष्यों को भगवान् का भजन और तपस्या अवश्य बतलाते हैं। तो मुनिराज बोले-बेटी यदि तुम लोगों को दुःख से मुक्त होना है और सुख–समृद्धि प्राप्त करना है तो नवपदजी की आराधना करो।

मैनासुन्दरी ने प्रश्न किया भगवन्! किस विधि से नवपद जी की आराधना करनी चाहिए?

मुनिराज ने उत्तर दिया—आसोज शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, नौ दिनों तक आयंबिल करना चाहिए तथा 'ॐ ह्रीं श्री नमो अरिहंताणं' इत्यादि नव दिनों तक जाप करते हुए बीस-बीस मालाएं फेरना

चाहिए। अर्थात् प्रथम दिन अरिहन्त की, दूसरे दिन सिद्ध की, तीसरे दिन आचार्य की, चौथे दिन उपाध्याय की, पांचवें दिन सर्वसाधुओं की, छठे दिन ज्ञान की, सातवें दिन दर्शन की, आठवें दिन चारित्र की और नववें दिन तप की माला फेरना चाहिए। इस प्रकार करने से धर्म के प्रताप से तुम्हें इह लोक में और परलोक में भी सुख प्राप्त होगा।

किस प्रकार नवपदों की आराधना करते हैं और किस प्रकार रोगमुक्त होकर आनन्द के भागी होते हैं, यह सब वृत्तान्त आगे सुनने से ज्ञात होगा।

केन्टोनमेंट बैंगलोर
८-१०-५६